योग सिद्धान्तो और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 31 अगस्त, 1998 अंक 5

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) – 283 202

SIDDHYOG
August 1998

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

❒

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

❒

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

❒

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति रु० 7-00
वार्षिक शुल्क रु० 70-00
द्विवार्षिक रु० 130-00
आजीवन रु० 700-00

इस अंक में

❒ अरा इव रथनाभौ 1
❒ अमृत कण 2
❒ विभूतिपाद की विभूतियाँ (विशेष लेख)..3
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज
❒ योग मार्ग में विघ्न एवं उनकी निवृति के उपाय (सम्पादकीय).......... 6
❒ किमस्ति योगः
द्वारका प्रसाद शर्मा.......... 9
❒ कल्याणकारी विश्वास
हनुमान प्रसाद पोद्दार.......... 14
❒ श्री गीताजी में योग तत्व का विवेचन
स्वामी केशवाचार्य.......... 16
❒ धर्मो रक्षति रक्षितः
पा.कृ.सावलापूरकर.......... 20
❒ अबोध बालक की प्राणरक्षा
विजयशंकर उपाध्याय.......... 25
❒ पश्चाताप
ब्र० बृजमोहन वाशिष्ठ.......... 29
❒ क्या मनुष्य मन है ?
ब्र० ओम प्रकाश.......... 30
❒ स्वामी विवेकानन्द ने कहा था...... 38

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31 अंक 5	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रंह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्य:। तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोग:।।	अगस्त 1998

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्य:
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति व: पाराय तमस: परस्तात्।।

मुण्डकोपनिषद् २/२/६

अर्थात्

रथ की नाभि में जुड़े हुए अरों की भाँति जिसमें समस्त देहव्यापिनी नाड़ियाँ एकत्र स्थित हैं; उसी हृदय में वह बहुत प्रकार से उत्पन्न होने वाला यह अन्तर्यामी परमेश्वर मध्य भाग में रहता है। इस सर्वात्मा परमात्मा का **ओम्** इस नाम के द्वारा ही ध्यान करो। अज्ञानमय अंधकार से अतीत तथा भवसागर से अन्तिम तटरूप पुरुषोत्तम की प्राप्ति के लिए साधन करने में तुम लोगों का कल्याण हो।

अमृत कण

(चाणक्य नीति से)

काल: पचति भूतानि काल: संहरते प्रजा:।
काल: सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम:।।

कालचक्र बड़े वेग से घूम रहा है। उसका नियन्त्रण ईश्वर के अतिरिक्त किसी के हाथ नहीं। प्रत्येक प्राणी के अन्दर बाहर रहते हुए परमशक्तिशाली प्रभु ही अपनी इच्छा से कालचक्र घुमा रहे हैं। कालरूपी घोड़ा इस विश्व रथ को चला रहा है। इस घोड़े की सात मुख्य किरणों के सहारे ही यह विश्व यज्ञ चल रहा है। क्रान्तिदर्शी कवि उसके संचालक बनकर सिद्धि प्राप्त करते हैं।

* * *

काष्ठपाषाणधातूनां कृत्वाभावने सेवनम्।
श्रद्धया च तया सिद्धस्तस्य विष्णु प्रसीदति।।

भावना या श्रद्धापूर्वक यदि लकड़ी, पत्थर या धातु निर्मित मूर्ति की भी पूजा की जायेगी तो सर्वव्यापक परमात्मा भक्त की भावना से प्रसन्न होंगे। उस अटूट श्रद्धा से भक्त को कोई–न–कोई अच्छा फल अवश्य मिलेगा। जड़ वस्तु में भी ईश्वर का निवास है, अस्तु, ईश्वर को ही वृत्ति मानकर उसका आदर करना अच्छा है।

* * *

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम्।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिन:।।

अपनी–अपनी प्रवृति शिक्षा–दीक्षा के अनुसार सबके श्रद्धा केन्द्र अलग–अलग होते हैं। ब्राह्मणी प्रकृति के व्यक्ति यज्ञ द्वारा श्रद्धा व्यक्त करते हैं, संसार से विरक्त मुनियों का श्रद्धा केन्द्र उनका हृदय ही होता है। जो ज्ञानी नहीं होते, निराकार प्रभु पर ध्यान एकाग्र नहीं कर सकते हैं उनके लिए कोई मूर्ति ही श्रद्धा केन्द्र बन जाती हैं। वे मूर्ति पूजक बन जाते हैं।

विशेष लेख

विभूतिपाद की विभूतियाँ-2

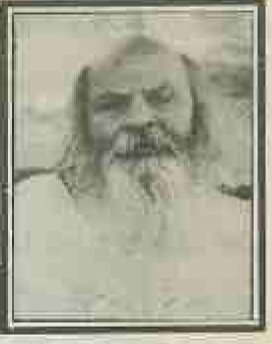

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

(गतांक से आगे)

भगवान पंतजलि देव ने अष्टांग योग का वर्णन किया, यथा **यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि।**

किन्तु योग के इन आठ अंगों में यम नियम आसन प्राणायाम–प्रत्याहार इन पाँचों की अपेक्षा धारणा–ध्यान समाधि अन्तरंग अंग है। किन्तु यह भी निर्जीव समाधि की अपेक्षा बहिरंग ही है। साधक ज्यों–ज्यों निरन्तर अभ्यास करता है। त्यों–त्यों उसके चित्त में विभिन्न प्रकार के परिणाम होते रहते हैं। जिस समय साधक योगी अपना अभ्यास आरम्भ करता है तो उसका चित्त जो अभी तक सर्वचिता में लगा था। वह एकाग्रता के रूप में बदल जाता है। यह उस साधक के चित्त का एकाग्रता परिणाम है। साधक के चित्त का सर्वार्थकता का ज्ञान शान्त हो जाता है। और एकाग्रता का ज्ञान उदय हो जाता है। यही शान्तोदित प्रत्यय कहलाते हैं। इसी प्रकार से साधक का चित्त ज्योंही एकाग्रता परिणाम को खोकर समाधि परिणाम में परिवर्तित होता है। त्योंही योगी के चित्त का समाधि परिणाम कहलाता है। इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास करने से समाधि परिणाम का आविर्भाव और निरोध परिणाम का आविर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार परिणित होता हुआ चित्त समाधि की सब भूमिकाओं में धर्मी बन करके परिणित में आता रहता है। धर्मी का लक्षण भगवान पंतजलिदेव ने अपने योग दर्शन में इस प्रकार कहा है–

शान्तोदिता व्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी।

अर्थात्–धर्मी वह कहलाता है जो भूत–भविष्य–वर्तमान में बराबर अनुगमन करता रहे। उदाहरण के लिए, इस बात को ऐसे समझना चाहिए जैसे घट–पट आदि परिणामों के अन्दर धर्मी मिट्टी कायम रहती ही चली जाती है। उदाहरणार्थ इस प्रकार समझिये। जैसे–कुम्हार ने खोदकर कुछ मिट्टी ली और पानी मिलाकर उसका गोला तैयार कर लिया अब यहाँ पर मिट्टी धर्मी है। और वह मिट्टी गोला रूप धर्म परिणाम में बदल गई। उस गोले को कुम्हार ने एक मटके के रूप में बदल दिया। अब वही मिट्टी जो गोला रूप धर्म परिणाम में परिवर्तित हुई थी। अब वह मटके के रूप में बदल गई यह उसी धर्मी मिट्टी का मटका रूप धर्म परिणाम है।

मटका पका लिया गया फिर उसको तोड़–फोड़कर ठिक्कड़ बना लिया गया। मिट्टी घड़े में भी मौजूद थी। और ठिक्कारों में भी, केवल उसके परिणामान्तर होते रहे। जब मिट्टी मटके के रूप में आई थी तब उसका नया मटका पुराना मटका कहकर अवस्था

परिणाम था। लम्बे गले का मटका आदि–आदि लक्षण परिणाम था। इन तीनों परिणामों के अन्दर मिट्टी धर्मी रूप से अपनी जगह कायम रही उसमें कोई अन्तर नहीं आया चाहे वह मटका बनी कसोरा बनी टीक कर बनी ठिक्कर टूट जाने के बाद मिट्टी का चूरण बन गया। मिट्टी वही मिट्टी रूप में आ गई। इस प्रकार से हमारे चित्त में एकाग्रता परिणाम समाधि परिणाम एव निरोध आदि परिणाम हुए। धर्मी चित्त अपने विभिन्न परिणामों में अन्यान्य एकाग्रता आदि धर्मों के अन्दर परिवर्तित होता रहा। केवल मात्र निर्जीव समाधि के अन्दर आकर जड़ चेतन की गाँठ टूट जाने पर आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जायेगा और चित्त उससे अलग होकर उसका गुणों में अवस्थान हो जायेगा। चित्त का एक क्रम से दूसरे क्रम में बदल जाना ही परिणामान्तर का हेतु है। ज्यों–ज्यों साधक अपने अभ्यास को बढ़ाकर विवेक ज्ञान को निर्मल कर लेता है। तब उसके चित्त में सभी कुछ ग्रहण कर लेने की योग्यता बढ़ जाती है। वह जहाँ–जहाँ अपने चित्त को संयमित करता है वहाँ–वहाँ का ज्ञान तत्काल प्राप्त कर सकता है। अब योगी की इच्छा है कि वह अपने सधे हुए चित्त को कहाँ–कहाँ लगायेगा, उसने प्रकृति का कितना अध्ययन करना है। कितनी प्रकार की सिद्धियों को उपार्जित करना है। जिस प्रकार से एक अध्ययन करने वाले छात्र ने पढ़ते–पढ़ते अपने बुद्धि बल को इतना बढ़ा लिया है कि वह जिस विषय को पढ़ना आरम्भ करता है उसकी बुद्धि तत्काल ग्रहण कर लेती है। और वह थोड़े से समय में उस विषय का भी विद्वान बन जाता है यदि वही विषय किसी अनपढ़ गंवार के सामने कहा जाए तो उसकी बुद्धि उस विषय को बिल्कुल भी ग्रहण न कर पायेगी, और न वह यह समझ पायेगा कि उसको क्या कहा जा रहा है यह तो है बाह्य कोष के अध्ययन की बात। योगी भीतर की पढ़ाई पढ़ता है। उससे भीतरी विज्ञान का अध्ययन करके अपनी रूहानी शक्तियों को प्राप्त करना है, और अपने आपको पूर्ण युक्त योगी का लक्षण श्रीमद्भगवदगीता में अखिल आत्मा भगवान श्री कृष्ण ने इस प्रकार कहा है–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी
सम लोष्ठाश्मकांचनः।

युक्त योगी का लक्षण अखिलात्मा भगवान श्री कृष्ण बतलाते है कि जो योगी अपने संयम के आधार पर प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे लोग ज्ञान तृप्तात्मा बन जाते हैं। ऐसे महायोगी पंच महाभूतों पर विजय प्राप्त करके भूतजयी होकर पंच महाभूतों पर पूर्ण अधिकार रखते है। उनके शरीर पर पृथ्वी–जल–अग्नि वायु और आकाश अपना किसी भी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं डालते। प्रत्युत योगी अपने मनोबल से भूतजयी होकर अपने शरीर में जैसे भी परिणाम पैदा करना चाहे कर लेता है। यह तो रही प्रकृति पर अधिकार की बात, इसके अतिरिक्त अपने विकास की ओर बढ़ता हुआ योगी शीघ्रातिशीघ्र आत्मबल से पूर्ण होकर प्रचण्ड भास्कर की तरह चमकने लगता है। अब उसका आत्म विज्ञान पर पूरा अधिकार है वह

बिहार रहित स्थिति में पहुँच गया है। इन्द्रियां पूरी—पूरी नियन्त्रण में हैं। ऐसे योगी की दृष्टि में लोहा, सोना, पत्थर सब समान है वह किसी के किसी प्रकार के प्रलोभन में नहीं आता। क्योंकि वह आत्मिक कोष को पूर्णरूपेण प्राप्त कर चुका है। उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है।

वह सब प्रकार से परिपूर्ण युक्त योगी है। प्रकृति के जिस प्रकार के ऐश्वर्य को वह प्राप्त करना चाहे तो क्षणमात्र के चिन्तन से ही प्राप्त कर सकता है। योगदर्शन के विभूतिपाद में योगियों को प्राप्त कुछ विभूतियों का वर्णन किया गया है। संयम सिद्ध योगी अपने संयम के बल से संयम करके किन—किन सिद्धियों को प्राप्त कर लिया करता है। इसका थोड़ा सा उल्लेख इस लेख के उपसंहार में कर देना ही उचित समझता हूं और भी इन विभूतियों को खोलकर बतलाया जाय जिससे पाठक गण अपने मनोबल को बढ़ाकर अपने आत्मधन से धनी बन जाय। भगवान पतंजलिदेव चित्त के तीन परिणामों में संयम करने का दिग्दर्शन कराते हैं—

परिणाम त्रय संयमाद् तीतानागतज्ञानम्

योगी जिस समय चित्त के धर्म लक्षण अवस्था आदि के स्थानों में संयम करता है तो उसको अतीत और अनागत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। व्यास भाष्य की वातिक पढ़िये—

धर्मलक्षणावस्था परिणामेषु संयमाद् योगिनाम् भवत्यतीतानागतज्ञानम् धारणा ध्यान समाधि त्रयमेकत्र

संयम उक्तः तेन परिणामत्रय साक्षात्क्रियमाणम तीता। नागतज्ञानं तेषु संपादयति।

अर्थात् धर्मी चित्त के अनेकों धर्म परिणाम होते रहे अब ये धर्मी चित्त इस समय एकाग्रता परिणाम वाला है क्योंकि इसकी प्रकृति शान्त दिखलाई देती है, यह चित्त का लक्षण परिणाम है। यह चित्त बहुत पुराने समय से एकाग्रता को प्राप्त हुआ है और इसकी अवस्था उत्तरोत्तर ज्ञानमय है यह चित्त का अवस्था परिणाम कहा जाता है। जिस समय योगी चित्त के इन तीन परिणामों के अन्दर संयम करता है तो उसको भूत भविष्य का ज्ञान होने लगता है। चित्त की निर्मलता एवं अभ्यास के बल से चित्त के अवशेष धर्मों के लक्षणों को पहचान करके भली प्रकार से जान जाते हैं कि उसके मन में क्या छिपे हुए भाव हैं। जैसा कि नीतिशास्त्र में कहा गया है—

आकारैरंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणे न च।
नेत्रवक्त्र विकारैश्च ज्ञायते अन्तर्गत मनः।।

अर्थात्— आकृति से इंगितो से चलने फिरने की गतो से हरकतों से अन्तर्गत मन का ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान तो साधारण व्यक्ति को भी हो ही जाया करता है। किन्तु चित्त शुद्धि से होने वाला ज्ञान परम शुद्ध भ्रान्ति रहित शुद्ध ज्ञान होता है। वही ज्ञान सिद्धियों का रूप धारण कर लेता है। इस छोटे से लेख में हमने संयम का प्रकार समझाकर योगी की होने वाले अतीत अनागत ज्ञान को समझाया। पढ़ने वाले साधक गण इस लेख को पढ़कर यदि अपने आत्मिक कोष को प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे तो बहुत ही भला होगा।

***

सम्पादकीय

योग मार्ग में विघ्न एवं उनकी निवृत्ति के उपाय

इससे पिछले माह के अंक में योग के विघ्न के रूप में संशय नामक विघ्न का वर्णन किया गया था। अब इस लेख में प्रमाद और आलस्य इन दो विघ्नों पर विचार करेंगे। प्रमाद का अर्थ है— असावधानी या लापरवाही। श्रुतियों में **'प्रमादो वै मृत्युः** अर्थात् प्रमाद ही मृत्यु है। ऐसा कहा गया है। प्राचीन काल में जब विद्यार्थी स्नातक होकर गुरु चरणों से विदा होता था तो उस समय गुरुदेव उसे कई प्रकार से उपदेश करते थे। जिससे वह घर परिवार में रहते हुये भी ज्ञानार्जन एवं आत्मोद्धार के साधनों पर चलता रहे। उन उपदेशों में एक मुख्य उपदेश शिष्य के लिये होता था **'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'** अर्थात् स्वाध्याय में कभी प्रमाद नहीं करना। इस प्रकार से गुरुदेव उसे चेतावनी देते थे कि शास्त्राध्ययन तथा मन्त्र—जाप में कभी असावधानी न करें। मनुष्य के पास साधना के लिये समय भी हो, शक्ति भी हो फिर भी साधक न करे यही प्रमाद कहलाता है। साधक नियमावली बना ले, दो—चार दिन उस पर चल भी पड़े किन्तु उसके बाद फिर साधना छोड़ दे तो वह प्रमाद बन जाता है। साधक सोचता है अरे! आज नहीं कल से कर दूँगा, अमुक कार्य मेरा पूरा हो जाये, तब साधना करूँगा। इस प्रकार से बहाने बनाता हुआ साधना से बचता रहता है। प्रमाद क्यों होता है ? भगवान ने गीता में इस इसका कारण समझाया है और बताया है कि यह प्रमाद तमोगुण से होता है। और तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्नि— बध्नाति भारत।।

अर्थात्—हे अर्जुन ! देहाभिमानियों को मोहित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ जान और यह तमोगुण इस जीव को प्रमाद आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है। इस प्रकार से तमोगुण के बढ़ जाने पर अन्तःकरण में जो बातें पाई जाती हैं भगवान उनका संकेत देते हुये बतलाते है—**अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च**

अर्थात्—तमोगुण के बढ़ जाने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश अर्थात् जड़ता हो जाती है। कर्तव्य—कर्मों के प्रति अप्रवृत्ति रहती है। प्रमाद और मोह अर्थात् विवेकहीनता हो जाती है। अन्तःकरण में मोह का साम्राज्य जब हो जाता है तो जीव की सोच में गड़बड़ी हो जाती है। फिर ऐसा मनुष्य **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।**

अर्थात्—अन्तःकरण के अंधर्म से घिर जाने पर बुद्धि अधर्म को धर्म मान लेती है तथा इसी प्रकार से सम्पूर्ण पदार्थों को भी विपरीत मान लेती है। वह बुद्धि तामसी कहलाती है। इस प्रकार से बुद्धि तामसी हो जाने पर जीव मोहित हो जाता है अर्थात् लक्ष्य को तो भूल जाता है और अज्ञानजन्य भ्रान्तियों को सत्य समझकर

उनमें उलझ जाता है। उस समय जीव आसुरी सम्पदा युक्त हो जाता है। अज्ञान ही आसुरी सम्पदा का लक्षण है। इसलिये साधक को दैवी सम्पदा को अपने अन्दर धारण करने का उपदेश सद्गुरु दिया करते हैं।

प्रमाद के साथ दूसरा विघ्न है **आलस्य**। प्रमाद और आलस्य की उत्पत्ति में आहार का बहुत बड़ा महत्व होता है। आलस्य क्या वस्तु है। व्यासदेव जी ने योग भाष्य में बताया है—**आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः'**

अर्थात्—शरीर एवं चित्त के भारीपन के कारण कार्य में प्रवृत्ति का न होना आलस्य है। यह भारीपन आहार के द्वारा ही होता है। भगवान ने गीता में कहा है— **नात्यश्नस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः**

अर्थात्—जो बहुत भोजन खाते है उनको योग सिद्ध नहीं होता तथा जो बिल्कुल कुछ नहीं खाते उनको भी योग की प्राप्ति नहीं होती। अधिक भोजन तथा तामसी भोजन से शरीर तथा चित्त में भारीपन रहता है। मनुष्य जो अन्न खाता है, वह तीन भागों में बंट जाया करता है। खाये हुये अन्न का स्थूल भाग तो पुरीष के रूप में शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है। उस का जो मध्य भाग है उसका रस बन जाता है उस रस से फिर रक्तादि अन्य धातुओं का निर्माण होता है। यह धातुयें शरीर को धारण करती है अन्त में यह ओज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उसी ओज से मन बनता है। इसलिये श्रुतियों में कहा गया है **'अन्नमयं हि सौम्य मनः**। अर्थात्—मन का आधार अन्न है। इसलिये आहार की शुद्धि साधक के लिये परमावश्यक है। **'आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः'** आहार की शुद्धि होने पर ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है। **हठयोग प्रदीपिका** में योग के छः विघ्न बताये है जिनके आ जाने पर योग नष्ट हो जाता है। इस विषय में श्लोक आया है

''अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः
जनसंगश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति।''

अर्थात्—योग साधक को अति आहार नहीं करना चाहिये। भूख से अधिक नहीं खाना चाहिये। उसे बहुत शारीरिक परिश्रम भी नहीं करना चाहिए। इससे शरीर में थकावट हो जाती है जिससे ठीक प्रकार से ध्यानाभ्यास में नहीं बैठा जाता। साधक को बहुत नहीं बोलना चाहिये। मितभाषी रहे या मौन भी रह सकता है। नियमग्रहः—बहुत सारे कर्मकाण्ड व नियम में अपने को नहीं बाँधना चाहिये। ऐसे नियम पालन में नहीं पड़ना चाहिये जिससे साधक के ध्यानाभ्यास में बाधा हो। जैसे अत्यन्त सर्दी के दिनों में बहुत जल्दी बहुत ठण्डे पानी से नहाना या आये दिन किसी न किसी प्रकार के व्रत का पालन आदि—आदि नियमबन्धन में नहीं पड़ना चाहिये। याद रहे, साधक का लक्ष्य है कि वह किसी भी यत्न से मन की एकाग्रता में विकास पाता रहे। साधक के लिये जन संसर्ग वर्जित है। भगवान ने गीता में **'अरतिर्जन संसदि'** तथा **'विविक्तसेवी'** आदि शब्दों से साधक को जनसमुदाय या सांसारिक चर्चाओं से दूर रहने का आदेश दिया है। **'लौल्यं'** का अर्थ है चपलता। साधक को चंचल नहीं होना चाहिये अपनी इन्द्रियों पर, मन पर तथा शरीर पर नियन्त्रण रखना चाहिये। गीता में सोलहवें अध्याय में भगवान ने दैवी सम्पदा करने का उपदेश दिया है। **'अचापलम्'** के गुण को धारण करने का उपदेश दिया है **अचापलम्** का अर्थ है व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव। अर्थात् शरीर इन्द्रियों से व्यर्थ की चंचलता अथवा चेष्टा नहीं करनी चाहिये।

इस प्रकार से अति आहार आदि को साधक के लिये सर्वथा त्याज्य कहा गया है। क्योंकि इससे अवश्य ही तमोगुण की वृद्धि होगी। भोजन में तरह तरह के अत्यधिक मिर्च–मसाले, खटाई आदि शरीर में रोग उत्पन्न करते हैं।

जो लोग बहुत मीठा खाते हैं व्यायाम के अभाव में उनके शरीर में स्थूलता आ जाती है नाड़ियाँ फूल जाती हैं। इसमें स्वाभाविक ही कफ, वात आदि दोषों का संचय हो जाता है। मीठा अधिक खाने से कमर दर्द, जोड़ो में दर्द, रक्त की अशुद्धि, तथा मधुमेह आदि उपद्रव हो जाया करते हैं। इसलिये साधक को अपने शरीर की आवश्यकता एवं बलाबल के अनुसार ही आहार लेना चाहिये। आहार का शरीर एवं मन पर पड़ने वाले प्रभाव को हर व्यक्ति अनुभव कर सकता है। जब व्यक्ति असमय में या मात्रा से अधिक भोजन करता है तो इससे उसे ठीक प्रकार से सुखपूर्वक नींद नहीं आती। शरीर में भारीपन हो जाने पर ज्ञानवाही अथवा प्राणवाही नाड़ियों पर दबाव पड़ता है। इससे दुःस्वप्न आया करते हैं। तामसी, भयावह तथा मन को अशान्त करने वाले दृश्य दिखाई दिया करते हैं। नाड़ियों में दबाव पड़ने के कारण व्यक्ति यह अनुभव करता है कि कोई उसके शरीर को दबा रहा है इस प्रकार से इसकी निद्रा भी कष्टकारी हो जाती है इसके विपरीत जब समय पर सात्विक सीमित भोजन किया हुआ हो तो व्यक्ति सोने पर सुषुप्ति में चला जाता है। यदि उसे स्वप्न आते भी हैं तो वह दिव्य–दृश्यों को देखता है, इष्टदेव के–गुरुदेव के दर्शन होते हैं। इस प्रकार से उसका मन निद्रा में भी सद्वृत्तियुक्त होकर प्रफुल्लित रहा करता है। मन्त्र जाप का प्रवाह भी ठीक चलता रहता है तथा प्राण की भी गति ठीक रहती है। इस प्रकार से आहार का प्रभाव हम अपने दैनिक जीवन में अनुभव कर सकते हैं।

प्रमाद और आलस्य–रूप विघ्नों को दूर करने के लिये साधक को यौगिक व्यायाम करने चाहिये। प्राणायाम, बन्ध–मुद्राओं का अभ्यास शरीर तथा नाड़ियों का मल दूर कर देता है। इससे शरीर और चित्त का भारीपन दूर होकर हल्कापन आ जाता है। जो नियमित रीढ़ की हड्डी सीधी करके दो–तीन घण्टे ध्यानाभ्यास करते हैं उनका चित्त और शरीर अपने आप निर्मल होकर हल्का हो जाता है। गीता में भगवान ने तीन बातें साधक के लिये आवश्यक बताई हैं वे है **'श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'**

अर्थात्–श्रद्धावान व्यक्ति योगज ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, जो साधना में तत्पर रहता है किसी प्रकार का प्रमाद आलस्य साधना में नहीं करता वह ज्ञान को प्राप्त करता है तथा जो अपने मन और इन्द्रियों पर संयम रखता है वह ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। प्रमाद और आलस्य मोहमयी मदिरा है जिन्हें भर्तृहरि योगी के शब्दों में इस प्रकार पढ़ा जा सकता है।

पीत्वा मोहमयी प्रमाद मदिरां उन्मत्त भूतम् जगत्।

अर्थात्–प्रतिदिन मरते हुये लोगों को देखकर भी मनुष्य को मृत्यु का भय नहीं हो रहा है। प्रमाद और मोहमयी मदिरा को पीकर सारा संसार उन्मत्त सा हो रहा है।

अतः साधक को चाहिये कि योग के लक्ष्य को सदा याद रखते हुये प्रमाद और आलस्य को त्यागकर तत्परता से साधना में लगा रहे। ***

किमस्ति योगः

रचयिता : द्वारकाप्रसाद शर्मा, लखनऊ।

(१) श्री सद्गुरुणां कृपया प्रसादितः, भूयः प्रवृत्तोऽस्मि स्वकीय श्लोकैः।
सूत्राणि व्याख्यायितुं महर्षेः, पतंज्जलेः सार्वजनीन श्रेयसे।।

इस लेख में हम महर्षि पतंज्जलि के योगदर्शन शास्त्र के साधन पाद के पाँच सूत्रों को पुनः ले रहे हैं। श्री सद्गुरुदेव की कृपा प्रसाद से ही सार्वजनीन श्रेयस्काम के निर्मित यथापूर्व श्लोकानुबद्ध रीति से इसकी व्याख्या करेंगे। सुधी पाठक व योगपरायण साधकवृन्द इससे यत्किञ्चित भी लाभान्वित हो सके तो उसे मैं प्रभु जी का ही सब पर परम अनुग्रह मानूंगा। यह योगशास्त्र तो वह रत्नाकर है जिसमें जितना भी अवगाहन व निमज्जन किया जाय उससे नित्य नवीन जीवन पथ को आलोकित करते मणि–निकर ही उपलब्ध होते रहेंगे। यही इस दुर्लभ देह की चरमोपलब्धि भी है।

(२) पञ्चैव सूत्राणि प्रगृह्य यावत, श्लोकानुबद्धानि क्रमागतानि।
भावानुवादेन समं करिष्ये, यथोपूर्व मेवाचरितं मया खलु।।

साधन–पाद के पाँच सूत्रों पर आश्रित श्लोकों की रचना की गई है और प्रत्येक श्लोक के नीचे पाठकों की सुविधा की दृष्टि से साथ–साथ उसका भावानुवाद हिन्दी भाषा में भी किया जा रहा है। इससे पूर्व भी ऐसा ही किया गया था।

पाँच सूत्र निम्न प्रकार हैं–

(१) सुखानुशयी रागः (२) दुःखानुशयी द्वेषः (३) स्वरस वाही विदुषोऽपि रुढोऽभिनिवेशः (४) ते प्रतिप्रसव हेयाः सूक्ष्माः (५) ध्यान हेयास्तद् वृत्तयः।

(३) सुखाय भोगाय च चेतसि सदा, कामो वरीवर्ति यदोपभुक्त्यै।
स एव रागः सुखमेधमानः, जनो मन्वते रागग्रस्तः सुखं तद्।।

चित्त में सुख प्राप्ति के लिये और भोगों को भोग लेने की इच्छा सदैव घर किये रहती है। उन भोगों के प्रति सुख पा लेने की वही इच्छा अभिवृद्ध होती रहती है। राग से ग्रसित जन उसी में सुख माने रहता है। यही रागात्मक क्लेश है जो सुख की मृग मरीचिका में मनुष्य को क्लिष्ट किये रहता है।

(४) चिद्बिम्बभासात्तु निजे शरीरे, तथैवेन्द्रियेषु मनसि चैव तद्वत्।
भोग्येषु विषयेषु सुखप्रतीति, भवत्येव हेतु:, पुनरेव भुक्त्यै।।

चैतन्य आत्मा का प्रतिबिम्ब जब शरीरान्तर्गत इन्द्रियों और मन पर पड़ा करता है तो भोग्य विषयों में उनके द्वारा सुख की प्रतीति हुआ करती है। तत्पश्चात् वही भोग्येच्छा और सुखेच्छा उन्हें पुन: पुन: भोगने के लिये प्रवृत्त किया करती है।

(५) तृष्णा तदेवास्ति भवेत्पुन: पुन:, लोभस्य कामस्य तदेव जनिता।
भूयस्तु संस्कार रूपेण जाता:, रागाभिधानेन महर्षिणोदित:।।

सुख–भोग की वही तृष्णा व लालसा, काम और लोभ को उत्पन्न करने वाली हुआ करती है। बारम्बार की यह प्रवृत्ति संस्कार बन जाया करती है। इसे ही महर्षि पतञ्जलि 'राग' की संज्ञा से अभिहित करते है।

(६) दु:खानुभूत्या भवति घृणात्मिका, या भावना सा गदितेति द्वेष:।
प्रतीपवद् वस्तुषु दु:खभानात, घृणा जायते तन्निमित्तादिषु तथा।

अब **दु:खानुशयी द्वेष:** सूत्र की व्याख्या में उक्त श्लोक का प्रणयन है।

दु:ख की अनुभूति के पश्चात तन्निमित्त वस्तुओं अथवा पदार्थों के प्रति जिस घृणामूलक भावना का उदय होता है उसे ही द्वेष का नाम दिया गया है। प्रतिकूल वस्तुओं और पदार्थों से जो दु:ख प्राप्त हुआ तब उन–उन निमित्त बनी वस्तुओं के प्रति घृणा हो जाती है।

(७) क्रोधस्य जनकस्तु तदेव भूत्वा, संस्कार बीजान वपति स्वचित्ते।
क्लेश: स द्वेषात्मक एव वै पुन:, दु:खानुभूतेस्तदनन्तरं भवेत्।।

तत्पश्चात वही क्रोध को उत्पन्न कर देता है और चित्त में संस्कार रूप बीज का वपन हो जाया करता है। द्वेषमूलक वही क्लेश दु:ख की अनुभूति के पश्चात् हुआ करता है।

(८) परम्परात: समुपस्थितोऽस्ति, स्वनामतोऽप्यभिनिवेश एव स:।
मरणस्य त्रास: समुदीरितो य:, विज्ञोऽपि यस्मात्तु बिभेति सर्वश:।।

इस श्लोक के अग्रिम सूत्र में **'स्वरसवाही विदुषोऽपि रूढोऽभिनिवेश:'** का उल्लेख है।

'अभिनिवेश' नामक क्लेश जन्म जन्मान्तर से प्राणियों द्वारा अनुभूत व स्मृत हुआ करता है। इसमें मरण के प्रति भय चिरन्तन रूप से विद्यमान रहा करता है। चाहे कोई मूढ़ हो अथवा हो विद्वान, सबको समान रूप से मृत्यु भय समुपस्थित रहा करता है।

(९) त्रस्ता यतो वै मरणात्तु प्राणिन: संसिद्धयते प्रागपि मृत्युत्रास:।
अतो ध्रुवं प्राणिनां पूर्वजन्म, पूर्वानुभूति स्मरते जनो यत:।।

समस्त प्राणी मरने के भय से त्रस्त रहा करते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इससे पूर्व भी व्यक्ति ने मृत्यु के त्रास का अनुभव किया हुआ है। इससे यह भी स्वयं सिद्ध है कि प्राणियों का पूर्व जन्म भी निश्चित रूप से होता है। क्योंकि मनुष्य पूर्वकाल में हुए अनुभव को स्मरण करता हुआ ही उससे भयभीत रहा करता है।

(१०) को मर्तुकाम: परिदृश्यतेऽत्र, सर्वो हि यतते खलु जीवनाय।
विषयेषु सक्तो मन एव तावत्, विकीर्षुरिवास्ति नवीन वासनाम्।।

यहाँ, इस संसार में, यह देखा जाता है, कोई भी प्राणी मरने की इच्छा नहीं करता। सभी यही यत्न करते हैं कि वे जीते रहें। और विषयों तथा भोग पदार्थों में अनुरक्त मन तो भोगों के भोगने में ही आसक्त देखा जाता है। जिससे नई–नई वासनायें प्रस्फुटित व अंकुरित हुआ करती हैं।

(११) सैषा नवा वासना बी रूपे, स्थितश्चेतसि जायते बद्धमूल:।
निर्माय संस्कारमतो हि हेतु र्नवजन्मनो भवति तत्तु जनस्य निश्चितम्।।

यही नई वासना बीज रूप में चित्त में विद्यमान बद्धमूल हो जाया करती है और यही संस्कार के निर्माण में कारण बना करती है। पुनर्जन्म धारण में भी यह निश्चित रूप से प्रमाणवत् सिद्ध होता है।

(१२) एतांस्तु क्लेशान् परिक्षीणनाय, क्रियायोगमाश्रित्य महर्षिणा पुन:।
क्लेशान्कथं श्लथयितुं यतते तु योगी, सूत्रेऽग्रिमे तत्कथितो ह्युपाय:।

इन सभी क्लेशों को क्रियायोग के अवलम्ब से किस प्रकार शिथिल करने का योगी प्रयास

किया करता है। उसका उपाय अग्रिम सूत्र में महर्षि पतञ्जलि द्वारा उल्लेख किया गया है।

(१३) ये पंचक्लेशा भणितास्तु पूर्वे, क्रियायोगतश्चापि श्लथतां प्रणीताः
चेतः स्वकीय कारण एवं क्षिप्ताः, विनष्टुमर्हाः कथिता महर्षिणा॥

जिन पाँच क्लेशों को पहले बतलाया गया है तथा जिन्हें क्रियायोग के सहारे शिथिलता को प्राप्त कराया गया है। इनका कारण चित्त जब कारणभूत प्रकृति तत्व में ही लीन हो जाता है तो महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि ये क्लेश नष्ट करने योग्य हो जाया करते हैं।

(१४) प्रकृतिः कारणं चेतः, तत्प्रकृतौ विलयं नयेत्॥
विलये सति चित्तस्य, बीजा नश्यन्ति सर्वथा॥

चित्त का मूल कारण है प्रकृति, और वह चित्त प्रकृति में विलीन कर दिया जाय। चित्त के विलीनीकरण पर सब प्रकार से क्लेश रूपी बीजों का उन्मूलन हो जाया करता है।

(१५) चित्तेऽस्मदीये द्विविधास्तु वृत्तयः, स्थूलास्तथा सूक्ष्मरूपास्तु ह्येता
ध्यानेन त्याज्यास्तत्स्थूल वृत्तयः, शनैश्शनै स्तास्तु व्रजन्ति सूक्ष्मताम्

हमारे चित्त में दो प्रकार की वृत्तियाँ विद्यमान रहा करती हैं। एक स्थूल वृत्तियाँ और दूसरी सूक्ष्म वृत्तियाँ। ध्यान करने से उन स्थूल वृत्तियों को दूर किया जाता है तथा वे ही धीरे–धीरे सूक्ष्मता की ओर ले जाई जाती हैं।

(१६) मलं पटे व्यावृतमस्ति स्थूलं, प्रक्षालनात्तत् भवतीति दूरम्।
अन्तःपटे विवसितं च मलं न शीघ्रं, प्रदाति विपुलेन श्रमेण साकम्॥

जिस प्रकार एक वस्त्र में ऊपरी मल तो धुलने पर दूर कर दिया जाता है परन्तु पट के अन्दर तक गई मैल शीघ्रता से निवारित नहीं की जा सकती परन्तु वह अत्यधिक श्रम करने पर हटाई जा सकती है। इसी प्रकार सूक्ष्म वृत्तियों का निराकरण भी श्रम से साध्य है।

(१७) तथैव याः स्थूल तमास्तु वृत्तयः, स्वल्प प्रभावानु स्वल्प क्लेशदाः।
भृशं क्लेशदाः सूक्ष्म तमास्तु वृत्तयः, ध्यानेन हेयाः सकला भवन्ति॥

इसी प्रकार हमारी जो स्थूल वृत्तियाँ होती है, वे स्वल्प प्रभाव वाली तो हुआ ही करती हैं और साथ ही वे स्वल्प क्लेश को ही प्रदान करने वाली होती है जब ये वृत्तियाँ सूक्ष्म रूप में निवास करती हैं तो अतिशय क्लेश प्रदान करने वाली हो जाती हैं तथा ये ध्यान करने से ही हटाई जाती हैं।

(१८) ध्यानाभ्यासेन क्लेशानां, स्थूला या यास्तु वृत्तयः।
तादृशी स्थिति रेतासां, दग्धबीजस्य यादृक्षी।।

जो स्थूल वृत्तियाँ होती हैं उनका निवारण तो ध्यानाभ्यास के द्वारा कर दिया जाता है। उन क्लेशों की स्थिति वैसी ही बन जाया करती है जैसे एक जले हुए या भुने हुए बीज की रहती है जिसमें पुनः पनपने की सामर्थ्य शून्य हो जाती है।

(१९) योगदर्शन सूत्राणि, मणयः मौक्तिकानि हि।
अमूल्यानि कृते तेषां, मूल्यं जानन्ति वस्तुतः।।

योगदर्शन के ये सूत्र क्या है मानो ये मणि और मोती के ही अदृश हैं। उन व्यक्तियों के लिये तो ये अनमोल रत्न हैं जो यथार्थ में इनके मूल्य का आकलन करने की क्षमता रखते है।

(२०) पादपद्मो गुरोर्नत्वा, विरमामि स्वलेखनात।
ययोः स्मरणमात्रेण, लेखनी लिखति स्वयेम्।।

श्री सद्गुरुदेव के चरण कमल युग्म को नमन करते हुए अब मैं यहाँ लेखन को विराम दे रहा हूँ जिन चरणविन्दों के स्मरणमात्र से लेखनी स्वयं लिखने लगती है।

जय जय जय श्री गुरुदेव

****

कल्याणकारी विश्वास

साभार (कल्याण-कुञ्ज-भाग-३)

हनुमान प्रसाद पोद्दार

विश्वास करो कि मै भगवान् की कृपाशक्ति पर विश्वास करके जिस साधन मार्ग पर चल रहा हूँ, मेरे लिये वही प्रशस्त है और मैं उसमें निश्चय ही सफलता प्राप्त करूँगा। ऐसा कभी मत सोचो कि साधन ठीक है या नहीं, अथवा सफलता मिलेगी या नहीं। संदेहमार्ग रोक देता है और विश्वास लक्ष्य पर पहुँचा देता है।

* * * * * *

विश्वास करो और निश्चय करो कि मैं इस बार मानव–शरीर धारण करके जगत में आया ही इसलिए हूँ कि अब की बार मै शरीर के बन्धन में से जो अज्ञान जनित है, छूटकर ही रहूँगा। अज्ञान के कारण ही मैं अनादिकाल से अबतक भटकता रहा। अब नहीं भटकूँगा, नहीं भटकूँगा।

* * * * * *

विश्वास करो कि अज्ञान का सर्वथा समूल नाश होना और भगवत्ततत्त्व साक्षात्कार होना एक ही बात है यह भगवत्तत्त्व साक्षात्कार ही मानव जीवन का चरम एवं परम लक्ष्य है और यह निश्चय करो कि मै उस भगवत्तत्त्व साक्षात्कार का अधिकारी होकर ही आया हूँ तथा उसे प्राप्त करके ही रहूँगा।

* * * * * *

विश्वास करो कि मेरे इस अधिकार का एकमात्र बल है भगवान की कृपा और वह भगवान की कृपा मुझे अनन्त और असीम रूप में प्राप्त है। मैं उस कृपा समुद्र में निमग्न हूँ, इसलिए अब मुझे यह भी सोचना नहीं है कि भगवतत्व का साक्षात्कार भी मुझे करना है; क्योंकि भगवतत्व के अथाह समुद्र में निमग्न हो जाने के बाद न तो कोई सोच–विचार होता है और न उसकी आवश्यकता ही रहती है।

* * * * * *

विश्वास करो कि भगवान की कृपा शक्ति समस्त भागवती शक्तियों की स्वामिनी है। सारी शक्तियाँ इन्हीं की अनुगता होकर कार्य करती हैं। यह महती कृपाशक्ति जिसको अपना लेती है,

वह भगवतत्व–साक्षात्कार हो क्या भगवान को–समग्ररूप से सब प्रकार से पाकर निहाल हो जाता है।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

विश्वास करो–जहाँ अपने पुरुषार्थ तथा अपनी पृथक क्षुद्र शक्ति पर आस्था है, तब एक तुच्छ अहंकार का तुम पर आधिपत्य है। ऐसे अहंकार के रहते तुम्हारे लिए वस्तुतः भगवान की कृपाशक्ति का कार्य रुका रहता है। कृपाशक्ति चाहती है–पूर्ण निर्भरता, पूर्ण प्रपत्ति और पूर्ण आत्म निवेदन। अपने को अपनी सारी शक्तियों सहित सारी शक्तियों के उद्‌गम और आकार–स्वरूप भगवान के समर्पण कर दो। अपने समस्त अहंकार को जला दो, गलाकर बहा दो और सर्वतोभाव से कृपामाता का आश्रय ग्रहण करो। फिर देखोगे, कितनी जल्दी और कितनी सुकरता एवं सुन्दरता से तुम्हारी यह आखिरी जीवनयात्रा सफल होती है।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

विश्वास करो–भगवत्कृपा तुम्हें अपनाने, तुम पर बरसने, तुम्हें अपनी महान् मधुर और शीतल छाया का आश्रय देने के लिए सदा–सर्वदा तैयार है तथा वह यह भी नहीं देखती कि तुम्हारा पूर्व इतिहास, अब तक का आचरण कैसा है? तुम पुण्यात्मा हो या पापी, तुम सात्विक हो या तामस, तुम ब्राह्मण हो या चाण्डाल, तुम देवता हो या दानव, तुम हिंदू हो या मुसलमान, तुम धनी हो या गरीब और तुम पंडित हो या मूर्ख–वह तो केवल देखती है तुम्हारे अंदर का भाव। यदि तुम सचमुच अन्य सारे साधनों से हताश–निराश होकर और एक विश्वास भरोसे के साथ उसकी ओर निहार रहे होगे तो वह उसी क्षण तुम्हें अपना लेगी, तुमपर चारों ओर से बरस पड़ेगी और तुम्हें अपनी सुखद छाया का आश्रय देकर निश्चिन्त, निर्भय और निष्काम बना देगी। तुम्हारी कोई भी कामना अपूर्ण नहीं रहेगी उस समय, परंतु तुम्हें कामना और पूर्ति का भी पता नहीं रहेगा। तुम उस समय उस कृपाशक्ति की पवित्र लहरों के साथ घुल–मिलकर स्वयं पवित्र कृतार्थ रूप हो जाओगे।

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

विश्वास करो–भगवान् की कृपा तुम पर है ही। वह सदा सभी पर है। सभी को प्राप्त है। तुम विश्वास नहीं करते–मानते नहीं, इसी से अन्य साधनों का सहारा खोजते हो और इसी से उस नित्य प्राप्त जन्मसिद्ध अपने परम धन से वंचित हो रहे हो।'

✻ ✻ ✻ ✻ ✻ ✻

श्री गीताजी में योग तत्व का विवेचन

लेखक– डा. स्वामी केशवाचार्य, चान्दोद (वडोदरा)

योग योगेश्वर लीला पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण ने गीता में तीन प्रकार के योगों का वर्णन किया है। पहले अध्याय से छठे अध्याय तक **कर्म योग** का निरुपण, सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक **भक्ति योग** का निरुपण, तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक **ज्ञान योग** का निरुपण किया है। यहां प्रश्न उठ सकता है कि इन तीन योगों के वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी। एक ही योग का वर्णन कर देते। इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि क्या श्री सिद्ध गुफा संवाई धाम जाने के लिए एक ही साधन है या विभिन्न साधन हैं। जैसे आप अपने घर से श्री सिद्धगुफा संवाई धाम जाने के लिए मोटर से भी जा सकते हो, ट्रेन से भी जा सकते हो, अपने निजी वाहन से भी जा सकते हो उसी तरह से भगवान से सम्पर्क स्थापित करने के लिए कर्मयोग भी है, भक्ति योग भी है और ज्ञान योग भी है। राजा जनक ने कर्मयोग का आश्रय लिया। गोपियों ने भक्तियोग का आश्रय लिया। और शुकदेव जड़भरत इत्यादि ने ज्ञानयोग का आश्रय लिया। पहुंचे एक ही स्थान पर उपासना की पद्धति में भिन्नता होते हुए भी, साधना की पद्धति में विभिन्न मार्गों में चलते हुए भी, गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिए भगवान श्री कृष्ण ने कर्मयोग भक्ति योग और ज्ञान योग का निरुपण किया। फिर भी विचार करने की बात है कि गीता में कर्म, भक्ति और ज्ञान का सन्देश नहीं है गीता में कर्मयोग का सदेश है, भक्ति याग का सन्देश है और ज्ञान योग का सन्देश है। इसीलिए गीता में पहले अध्याय से अठारहवें अध्याय तक **'योग'** शब्द का वर्णन है। अर्जुन विषाद योगो नाम प्रथमोध्याय: सांख्य योगेनाम द्वितीयोध्याय:, कर्मयोगोनाम तृतीयोध्याय:, ज्ञान कर्म सन्यास योगो नाम चतुर्थोध्याय: और मोक्षकर्म संन्यास योगो नाम अष्टादशोध्याय: बस। गीता जी में जो कुछ भी विशेषता है योग की ही विशेषता है। और यदि योग शब्द अपने जीवन में उतार लिया जाय तो परमात्मा से कभी वियोग हो ही नहीं सकता है। अब प्रश्न यह है कि योग किसे कहते हैं। योग माने जोड़ जैसे चार–चार का जोड़ आठ होता है उसी तरह से घर गृहस्थी का काम करते हुए मकान, दुकान, ऑफिस, कचहरी का काम करते हुए हमारा मन भगवान से जुड़ जाय बस इसी का नाम योग है। बस यही कारण था भगवान ने पहले अध्याय का नाम अर्जुन विषाद योगो नाम रखा है।

अब कितनी सिद्धान्त की सुन्दर बात है। जब तक मनुष्य को विषाद नहीं होता तब तक न परमात्मा का दर्शन होता है, न प्रभु की शरणागति प्राप्त होती है, और न तत्व ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए विषाद योग की सबसे बड़ी महत्ता है। यदि कुरुक्षेत्र के विशाल (मैदान) रणांगन में योग योगेश्वर लीलो पुरुषोत्तम भगवान

श्री कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में ले जाकर रथ को खड़ा न किया होता और अर्जुन को विषाद न हुआ होता तो सम्भवतः योग योगेश्वर लीला पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण अर्जुन को गीता नहीं सुनाते। यदि चक्रवर्ती सम्राट राजा मनु अपनी राजधानी के वैभव से विषाद को प्राप्त न हुए होते तो सम्भवतः तेइस हजार वर्ष तपस्या करने के पश्चात् उन्हें भगवान का दर्शन नहीं होता। यदि चक्रवर्ति सम्राट राजा परिक्षित ऋषि कुमार के श्राप से विषाद को प्राप्त न हुए होते तो सम्भवतः उन्हें गंगा किनारे जाकर श्री शुकदेव जी के द्वारा श्री मद्भागवत जी की कथा श्रवण करने का अवसर प्राप्त न होता। यदि कुलसाथरी पर पड़े हुए भगवान को देखकर निषाद को विषाद न हुआ होता, तो सम्भवतः उसे लक्ष्मण गीता न सुनाई जाती। यदि राणा परिवार के कष्टों से मीरा को विषाद न हुआ होता तो सम्भवतः उसे गिरिधर गोपाल का दर्शन नहीं होता। यदि हिरण्यकश्यप के अत्याचार से प्रहलाद को विषाद न हुआ होता तो सम्भवतः उसे नृसिंह भगवान का दर्शन नहीं होता। यदि पिता की गोद से उतार कर ध्रुव को विषाद न हुआ होता तो सम्भवतः उसे जंगल में जाकर श्री हरि भगवान का दर्शन नहीं होता। यदि बलि के मरने पर तारा को विषाद न हुआ होता तो सम्भवतः उसे भगवान आत्मज्ञान का उपदेश नहीं देते। यदि रावण के मारने पर विभीषण को विषाद न हुआ होता तो सम्भवतः उसे भगवान की शरणागति प्राप्त नहीं होती।

अस्तु उपरोक्त इन उदाहरणों से समझा जा सकता है कि जब मनुष्य को विषाद होता है तभी ज्ञान होता है फिर भगवद् दर्शन होता है। इसलिए गीता का पहला अध्याय अर्जुन विषाद योग नाम का ही रखा गया। जब अधिक तपन होती है तभी बारिश होती है। जब लोहा गरम होता है तभी हथियार बनाये जाते हैं। यदि लोहा गरम न हो तो कोई हथियार तैयार नहीं हो सकता है। इसीलिए अर्जुन को समरांगण में दोनों सेनाओं के बीच खड़े होकर जब यह मालूम पड़ा कि हमें क्या करना है। तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। तो भगवान ने कहा अर्जुन तुम रो क्यों रहे हो ? अर्जुन ने कहा महाराज यदि युद्ध होगा या तो मैं मारा जाऊँगा या तो मेरे द्वारा ये मारे जाएँगे। बस गीता में यही दो बाते हैं। इन्हीं दो बातों का विस्तार अठारह अध्याय में किया गया। भगवान ने कहा अर्जुन शरीर की दृष्टि से कोई बचा ही नहीं और आत्मा की दृष्टि से कोई मरा ही नहीं। यह भगवान ने तब कहा जब अर्जुन विषाद से युक्त हो चुका था। जैसे गर्म लोहे पर घन चलता है। वैसे ही भगवान ने जब अर्जुन को विषाद युक्त देखा तो भगवान ने कहा अर्जुन—

''क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।

गीता २/३।।

जो भगवान हाथ में कोड़ा लिए हुए थे रथ के घोड़ों के संचालन के लिए उस कोड़े को भगवान ने अलग रख दिया और अर्जुन के अज्ञान रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी कोड़ा से तीन शब्दों का प्रयोग किया। नपुंसक, **हृदय का दुर्बल** और **क्षुद्र हृदय**। बस जहाँ यह तीन शब्दों का प्रयोग भगवान ने किया कि अर्जुन ने भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए तीन शब्दों का प्रयोग किया। अर्जुन ने कहा— **शिष्यस्तेऽहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम्।।** गी

२/९।। मैं आपका शिष्य हूँ। मां शाधि। मुझे शिक्षा दे। और मैं आपके शरण में हूँ। बस यही गीता के ज्ञान की भूमिका है। पिता पुत्र के सम्बन्ध से ज्ञान नहीं होता, भाई–भाई के सम्बन्ध से ज्ञान नहीं होता मित्र–मित्र के सम्बन्ध से ज्ञान नहीं होता। जब भी कभी ज्ञान हुआ है गुरु शिष्य के सम्बन्ध से ही हुआ है। जब तक अर्जुन भगवान को मित्र मानता रहा तब तक भगवान व्यवहार की बाते ही करते रहे। लेकिन जब वह किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया और पूर्ण रूप से शरणागत हो गया तब भगवान बोले–

''अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।२।११।।

भगवान पहली बार अर्जुन से गीता में बोले। इसलिए मेरा अपना मन्तव्य यह है कि जब मनुष्य को विषाद होता है तब ज्ञान होता है फिर भगवद्दर्शन होता है। अस्तु। यदि मनुष्य ये सोच ले कि शरीर क्षणभंगुर है यानि कि बुलबुले जैसा है तो समय शक्ति सामर्थ्य के रहते हुए जो कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का आश्रय लेकर गुणातीत बनने का प्रयास करता है, वही सचमुच योगी है। इसलिए भगवान ने तीन योगों का वर्णन किया है। उन तीन योगों में सबसे पहला है निष्काम कर्मयोग। और वह निष्काम कर्मयोग कितना सुन्दर है कि कर्म योगी व्यक्ति के लिए यही साधना और यही भजन है। निष्काम कर्मयोग में तीन शब्द हैं। **निष्काम, कर्म** और **योग**।

अब निष्काम माने फल की आशा से रहित जो कर्म किया जाता है। वह भगवान को मिलाता है। यह निष्काम कर्म योग का अर्थ है। इसलिए भगवान ने कहा पहले कर्म समझो। भगवान बोले–

''कर्मणो ह्यपि बोधव्यं बोधव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोधव्यं गहना कर्मणो गतिः।।

४/१७।।

अर्जुन कर्म समझो, अकर्म समझो, विकर्म समझो। कर्म किसे कहते हैं जिसको शास्त्र ने कहा और सद्गुरु ने उसका समर्थन कर दिया, ऐसी विधि का नाम कर्म है। विकर्म वह है जिसको शास्त्र ने न करने का आदेश दिया और गुरु ने समर्थन किया कि हाँ यह कर्म नहीं करना चाहिये। तीसरा है अकर्म। अकर्म ही निष्काम कर्मयोग है। इस अकर्म के तीन लक्षण हैं और जो इन तीन लक्षणों से युक्त हो कर अपनी साधना करता है, उपासना करता है, और आत्मा तत्व का चिन्तन करता है इस निष्काम कर्मयोग से वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस निष्काम कर्म योग की तीन विशेषतायें हैं। पहली विशेषता क्या है ? मैं कर्म करता हूँ यह अभिमान नहीं करना चाहिये। दूसरी विशेषता कि कर्म का फल भगवान को समर्पित करना चाहिये। तीसरी विशेषता है कि अनासक्ति पूर्वक कर्म करना चाहिये। इससे अच्छा योग और कुछ नहीं है। भगवान श्री कृष्ण जी ने गीता के अठारहवें अध्याय में अच्छा उपदेश दिया–

"मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साह समन्वित:।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकार:कर्ता सात्विक उच्यते।।
गीता १८/२६

कितना सुन्दर विवेचन भगवान ने किया श्री गीता जी में ! मुक्त संग जो अनासक्ति पूर्वक कर्म करता है अनहं वादी अहंकार से रहित होकर कर्म करता है धृति और उत्साह से युक्त होकर कर्म करता है। **सिद्धय सिद्धयोनि विकार:** चाहे कार्य चाहे कार्य असिद्धि हो दोनों ही स्थितियों में जिसके अन्दर कोई विकार नहीं होता **कर्ता सात्विक उच्यते** वही सात्विक कहा जाता है। सात्विक कर्ता बनकर योगी बना जा सकता है। इसीलिए राजा जनक ने साम्राज्य नहीं छोड़ा, संरक्षण नहीं छोड़ा, परिवार नहीं छोड़ा लेकिन राजा जनक को जीवन मुक्त कहा गया। उन्होंने लाल वस्त्र नहीं रंगाये संन्यास नहीं लिया लेकिन उन्हें महायोगी विदेह कहा गया। देह रहते हुए भी "**विकार हेतौ सदविक्रियन्ते.....**। धीर योगी वह है जो विकारों के उपस्थित होने पर अपने मन को विचलित नहीं करता है। वही महान योगी है। और यही योग सीखने के लिए प्रात: स्मरणीय पूज्यपाद भगवान श्री महाप्रभु जी ने 'श्री सिद्धगुफा संवाई धाम" स्थान सुनिश्चित कर हम जीवों को योगिराज श्री सद्‌गुरुदेव जी के श्री चरणों में भेजा। श्री सद्‌गुरुदेव जी के कृपालोक में रहकर हम सब जीव उस योग को समझते हुए परमात्मा (ईश्वर) को प्राप्त कर सकते हैं। जिस योग को गीता जी में भगवान श्री कृष्ण जी ने समझाया है।

महिमामयी गौमाता

"गाय के पृष्ठ भाग में ब्रह्माजी का, गले में विष्णु भगवान का मुख में शिवजी का और रोम–रोम में ऋषि महर्षि देवताओं का वास है और आठ ऐश्वर्यों को लेकर के लक्ष्मी माता गाय के गोबर में बसती है। गाय की बहुत बड़ी महिमा है। जहाँ गाय के चरण पड़ते हैं, वहाँ देवताओं का वास रहता है। भारत को समृद्धशाली बनाने के लिए गोरक्षा अत्यन्त आवश्यक है।"

—योगिराज श्री देवरहा बाबा

धर्मो रक्षति रक्षितः

पा. कृ. सावलापूरकर

'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः' यह सुप्रसिद्ध वचन महाभारत वनपर्वान्तर्गत आरणेय पर्वके अध्याय ३१३ श्लोक १२८ में आया है। यह युधिष्ठिर का आत्मकथन है। 'जो धर्म का वध करता है उसी का धर्म भी नाश करता है, और जो धर्म का रक्षण करता है उसी का धर्म भी रक्षण करता है' यह इस श्लोकार्धका सरल अर्थ है। यह वचन का ठीक निर्वचन करने के लिये 'धर्म' की भारतीय संकल्पना क्या है यह भलीभांति समझनी चाहिये।

हमारे धर्म शब्द का प्रतिशब्द 'रिलीजन' ऐसा आंग्ल भाषा में दिया जाता है, परंतु वह अपर्याप्त है। धर्म यह तो यदृच्छ शब्द है, जिसका भाषांतर कदापि नही हो सकता। रिलिजन तो केवल उपासना पद्धति होती है, धर्म में उपासना केवल एक अंश है, अत: रिलिजन धर्म का एक अंशमात्र है। धर्म शब्द का स्पष्टीकरण देने के लिये हमारे शास्त्रग्रंथों में कतिपय व्याख्याएं दी गई है। हमारे धर्म को सनातन यही विशेषण लगाया गया है। अर्थात् वह अनादि और अनंत समझा गया है। धर्म अपौरुषेय याने परमेश्वर निर्मित माना गया है। किंबहुना धर्म स्वयं परमेश्वर स्वरूप है। विशिष्ट ग्रंथों को मानने वाला ही केवल धार्मिक है यह तो केवल हठ है। भारत में तो नास्तिक भी धार्मिक हो सकता है यदि वह किसी उत्तम यमनियमों का पालन करे। धर्म में तीन बातों का समावेश होता है। उपासना, अध्यात्म और व्यवहार। इनमें से उपासना में सनातन धर्म ने अपनी–अपनी प्रकृत्यनुसार व्यक्तिमात्र को स्वातंत्र्य दिया है। सगुणोपासना, निर्गुणोपासना, मौन, प्रगट—भजन ये सब हमारे धर्म को मान्य है। अध्यात्म की कल्पना में भी बहुत मतांतर हो सकता है, उसी में भी स्वातंत्र्य है। रहा व्यवहार, वह लौकिक होने से और उसका संबंध समुदाय से आने के कारण उसमें सबका एकमत है। ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन आदि जो अपनाही पूर्ण धर्म मानते है, उनका भी व्यवहार के बारे में प्राय: ऐकमत्य है। यह व्यवहार धर्म को ही आधुनिक जन मानव धर्म कहते है। और यह मानव धर्म ही पूर्ण धर्म है ऐसी उनकी धारणा है। क़िन्तु मानव धर्म भी सनातन धर्म का एक अंश है, अत: मानव धर्मी अंशत: धार्मिक है पूर्णत: नही।

भगवत्पूज्यपाद श्रीमदाद्य शंकराचार्य जी ने अपने गीता भाष्य के प्रारंभ में ही वैदिक धर्म की व्याख्या निम्न प्रकार दी है :—

'द्विविधो हि वेदोक्तो धर्म:। प्रवृत्ति लक्षणो निवृत्ति लक्षणश्च।

जगत: स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदय नि:श्रेयसहेतुर्य सधर्म:......'

वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है। प्रवृत्ति लक्षण और निवृत्ति लक्षण। जगत का स्थितिकरण और प्राणियो के साक्षात् अभ्युदय (उत्कर्ष) और नि:श्रेयस (मोक्ष) का कारण धर्म कहलाता है।

इसमें का वेदोक्त शब्द वेद प्रामाण्य न मानने वालों को कदाचित् मान्य नहीं होगा तो छोड़ देंगे। नि:श्रेयस की बात भी दूर रही, किंतु अभ्युदय तो सबको चाहिये। वह इसी जगत में साध्य करने की बात है वह साध्य करने के लिये हमारे प्राचीन ऋषियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था बनाई थी। वर्णों का प्राचीनतम उल्लेख तो

वेदान्तर्गत पुरुषसूक्त में आता है। प्रत्येक वर्ग का नियत कर्तव्य भी शास्त्रों में दिया है। जब तक यह पद्धति अक्षुण्ण चलती थी तब तक समाज स्पर्धारहित अवस्था में बराबर अपनी उन्नति करता जाता था। कालांतर से कई सुधारकों को इस व्यवस्था में कुछ विषमता प्रतीत होने लगी। उनकी जो समता की कल्पना थी, उसी में इस वर्ण व्यवस्था को स्थान नहीं था। शनैः शनैः वर्णों के बाद आश्रम भी प्राय उच्छिन्न हो गये। आज तो उस व्यवस्था की ओर केवल एक ऐतिहासिक घटना इसी दृष्टी से देखना चाहिये। आज कोई भी व्यक्ति अपनी रुचि सामर्थ्य के अनुसार कोई भी काम कर सकता है। परिणाम यह हुआ कि कुछ क्षेत्रों में अतिरिक्त भीड़ हो गई, फलतः स्पर्धा के मारे सबको कष्ट हो रहे हैं। विपरीत में अन्य कुछ क्षेत्रों में काम करने के लिये व्यक्ति मिलना कठिन हो गया। समाज के लिये तो सब कर्मों की आवश्यकता होती है। वर्णाश्रम उच्छिन्न होने से नई समस्याएँ पैदा हो गई, अतः उन्हीं को हल करने के लिये हमारे हितैषी उपाय सोचने में मग्न हैं।

'धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उसी में 'कर्तव्य' यह भी एक महत्व का अर्थ है। गीता में जो स्वधर्म शब्द आया है, उसका अर्थ भाष्यकारों ने वर्णों का शास्त्रविहित कर्तव्य यही दिया है। किन्तु जहाँ वर्ण ही यथापूर्व रहे नहीं तो उनका शास्त्रोक्त कर्तव्य कौन मानेगा ? अतः इस कर्तव्य का कालोचित अर्थ सोचना बहुत जरूरी है। व्यक्ति का कर्तव्य कैसा निश्चित होता है ? प्रत्येक व्यक्ति, स्वेच्छा से कहो या परेच्छा से कहो तो भी स्थित होता है। भले ही वह काम उसकी रूचि का न हो तो भी करना पड़ता है। अपने भागधेय से जो कर्म अपने को मिला वह कर्म अत्यंत प्रामाणिकता से और केवल समर्पण भावना से निभाना यही स्वधर्म का अर्थ करना उचित होगा। मनुष्य स्वभाव ऐसा विचित्र है कि हर एक को अपना स्वीय कर्म कुछ सदोष मालूम होता है और दूसरे का कर्म अच्छा लगता है। किन्तु सदोष और कष्टप्रद लगने वाला स्वीय कर्म करने से ही उस व्यक्ति का तो क्या किन्तु राष्ट्र का कल्याण होता है। अभ्युदय इसी में है। आज का धर्म पालन यही हो सकता है। धर्मपालन से ही कल्याण होना अपरिहार्य है, इसका अर्थ धर्म, धार्मिक का रक्षण करता है यही होता है।

प्रामाणिकता से कर्तव्य को निभाने का भी कुछ स्पष्टीकरण देना आवश्यक है। धर्म को न मानने वाले भी नीति को अवश्य मानते हैं। नीति धर्मान्तर्गत होने से वे, स्वतः को निधर्मी कहलाने वाले भी अंशतः धार्मिक ही होते हैं। हमारा सनातन धर्म जीवनव्यापी है। जीवन के हर क्षेत्र में किमान नीति की आवश्यकता होती है। राजकीय, सामाजिक, आर्थिक इत्यादि विभाग हमने अपने व्यवस्था के लिये माने हैं, उसी में भी धार्मिकता की यानि नीति की आवश्यकता होती है। हमारे शास्त्रों में वर्णधर्म, विद्यार्थी धर्म, स्त्री धर्म, राजधर्म इत्यादि जो पृथक् दिये हुए होते हैं, इसका उद्देश्य यही है। मनुष्य के साथ अंत में केवल धर्म ही आता है इस अर्थ का महाभारत में वचन आया है वह सत्य है।

व्यक्तिमात्र के इस आवश्यक नीति को ही संस्कृत में शील, प्राकृत में चारित्र्य और अंग्रेजी में कॅरेक्टर कहते हैं। शील के ऊपर हमारे शास्त्रकारों का बड़ा भारी भरोसा रहा। महाभारत में शीलहरण के विषय में बड़ी रोचक कथा आई है। वह प्रसिद्ध होते हुए भी प्रस्तुत विषयाकुल होने से यहा संक्षेप में देता हूँ। राक्षसराज प्रह्लाद यह बड़े भक्त और धार्मिक थे। उनके शील के कारण इंद्र का भी राज्य उनके हाथों में स्वयं आ गया। इस दुःस्थिती से छूटने के लिये क्या उपाय करना यह पूछने के लिये इंद्र प्रथम बृहस्पति, शुक्र आदि के पास

गया और उनके ही कहने के अनुसार वह प्रत्यक्ष प्रह्लाद के पास जाकर, ब्राह्मण के रूप में उनकी सेवा करने लगा। इंद्र की सेवा से प्रह्लाद बहुत प्रसन्न हुये और उसको कुछ वर माँगने का अनुरोध किया। ब्राह्मण वेषधारी इंद्र ने प्रह्लाद को उसका शील ही मांगा। प्रह्लाद ने 'तथास्तु' कहा। परिणाम यह हुआ की प्रह्लाद के शरीर से क्रमश: एक—एक तेजस्वी आकृति निकलकर इंद्र की ओर जाने लगी। प्रथम आकृती ने उत्तर दिया 'मैं शील हूँ।' तुमने मेरा त्याग कर दिया, मैं अभी वह ब्राह्मण के पास जाता हूँ। शील अदृश्य हो गया। बाद में दूसरा तेज प्रह्लाद के शरीर से प्रगट हुआ, उसको भी प्रह्लाद ने वैसी ही पृच्छा की। तेज बोला 'मैं धर्म हूँ' जहाँ शील, वहा धर्म रहता है, मैं शील के पीछे जाता हूँ।

उसके अनंतर तीसरा तेजस्वी महापुरुष प्रगट हुआ। प्रह्लाद के पूछने पर वह बोला 'मैं सत्य हूँ' जहाँ शील और धर्म हैं उनके साथ मैं रहता हूँ। उसके अनंतर चौथा महापुरुष प्रगट हुआ, उसने कहा 'मैं सदाचार हूँ।' सदाचार के बाद एक महाकाय तेज प्रगट हुआ; वह शब्द करता था। वह तेज बोला, 'मैं बल हूँ। जहाँ शील, धर्म और सदाचार होते हैं वह मेरी स्थायी वस्ती होती हैं सबके पीछे एक प्रभादेवी प्रगट हुई। वह बोली, मैं लक्ष्मी हूँ'। बल की अनुगामिनी होने के कारण मैं जा रही हूँ। प्रह्लाद के और पूछने पर लक्ष्मी बोली,

शीलेनहि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिता:
तद्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शील हृतं प्रभो।।६१।।
धर्म: सत्यं तथा वृत्ते बलं चैव तथाप्यहम्
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशय:।।६२।।

(महा. शांति. अ. १२४)

हे धर्मज्ञ, तुमने शील के द्वारा ही तीनों लोकों पर विजय पायी थी। प्रभो, यह जानकर ही सुरेन्द्र ने तुम्हारे शील का अपहरण किया है। महाप्राज्ञ, धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी) ये सब शील के ही आधार पर रहते हैं। शील ही उन सबकी जड़ है, इसमें संशय नहीं है। कथा का तात्पर्य स्पष्ट है। शील धर्मान्तर्गत होते हुए भी शील में धर्म रहता है। यह खूबी ध्यान देने योग्य है।

धर्म रक्षण से अपना रक्षण कैसा होता है इस संदर्भ में प्राचीन श्रुतिस्मृतिपुराण ग्रंथों में कतिपय विवेचन आया है। यहाँ कुछ थोड़े संदर्भ उद्धृत करता हूँ।

(१) स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्

(गी.२०४०)

यह धर्म का थोड़ा भी आचरण किया तो भी वह महाभय से अपना रक्षण करता है—

(२) सहयज्ञा: प्रजा:सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति:
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व:
परस्परं भावयन्त: श्रेय: परमवाप्स्यथ।

(गी. ३, १०—११)

प्रजापति यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न करके उनको बोला कि 'इससे अपनी वृद्धि कर लो यह यज्ञ आपका इष्ट फलप्रद हो। इस यज्ञ से आप देवो को मनाना, वे देव आपकी वृद्धि करेंगे। इस प्रकार परस्परों की वृद्धि करने वाले तुम परम श्रेय के भागी होंगे'।

यहाँ आधुनिक संदर्भ में 'यज्ञ' का अर्थ 'स्वधर्म' करना चाहिए। धर्म और प्रज्ञा साथ–साथ उत्पन्न हुई। धर्म रहित अवस्था कभी हो ही नहीं सकती। श्री ज्ञानेश्वरजी ने भी यहाँ यज्ञ का अर्थ, वर्णोचित शास्त्रविहित कर्तव्य इस अर्थ में क्यों न हो किन्तु, स्वधर्म ऐसा ही किया है।

(३) 'श्रेयात् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

(गी. ३.३५)

अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए दूसरे के धर्म से गुण रहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्म में तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरे का धर्म भय को देने वाला है–

(४) नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिंतात गच्छति।

(गी.६.४०)

प्यारे, आत्म कल्याण के लिये शुभ कर्म करने वाला कोई भी मनुष्य दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

(५) स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः (४५)
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् (४७)

(गी. अ. १८)

अपने अपने कर्म में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धी को प्राप्त होता है।

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है।

प्रत्येक प्रकार का स्वीय धर्म तो अनुष्ठेय है ही। किंतु व्यवहार में समष्टि सहकार के लिये जिसकी नितांत आवश्यकता है ऐसे परम अनुष्ठेय धर्म का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है।

(१) इस लेख का शीर्षक महाभारत में जिस यक्ष प्रश्न के प्रकरण में आता है, उसी में यक्ष रूपी धर्म, युधिष्ठिर समुचित उत्तर मिलने के बाद, प्रसन्न होकर, उनसे बोले–

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम्
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम

(महा. वन. ३१४.७)

यश, सत्य, दम, शौच, सरलता, लज्जा, अचंचलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य–ये सब मेरे शरीर है।

अहिंसा समता शान्तिरानृशंस्यममत्सरः द्वाराण्येतानि मे विद्धि

(महा. वन. ३१४.८)

अहिंसा, समता, शांति, दया और अमत्सर इन्हें मेरे पास पहुंचने के द्वार समझो।

(२) गीता अध्याय १६, श्लोक १ से ३ तक दैवी संपद् की तालिका इस प्रकार आती है–

''अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाति मानिता॥''

अर्थ स्पष्ट होने के कारण अनुवाद की आवश्यकता नहीं। ये सब गुण जहाँ रहते है वहाँ शील का अस्तित्व अनायास होता है।

(३) गीता अध्याय १७, श्लोक १४–१५–१६ इनमें क्रमशः शरीर, वांङ्मय और मानस तपका स्वरूप दिया है। इन गुणों से स्वधर्म रक्षण पूर्ण तौर से होता है।

(४) श्री मद्भागवत स्कंध ११ अध्याय १७ में, स्मृतियों के अनुसार वर्ण विशेष के लक्षण दिये है। अभीवर्ण संस्था उच्छिन्न होने से एककार हो गया है। तथापि उनमें जो सार्ववर्णिक धर्म के लक्षण दिये है वे मनुष्य मात्र के लिये लागू है। वे इस प्रकार–

''अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोध लोभता
भूतप्रियहितेहाच धर्मोऽयं सार्ववर्णिक:''

(श्लोक २१)

अहिंसा, सत्य प्रीति काम, क्रोध और लोभ इनका अभाव प्राणिमात्र का प्रिय और हित करने की इच्छा यह सार्ववर्णिक धर्म है। यक्ष प्रश्न में आये हुए धर्म के वचन, और गीता में दिये हुए दैवी संपत् के गुण इनसे ये मिलते जुलते हैं। इन गुणों के साथ यदि स्वधर्म का–प्राप्त कर्तव्य का – आचरण व्यक्ति करे तो उसका कल्याण होने वाला ही है, इसमें संशय नहीं।

उपरोक्त स्वधर्म के गुणों में राष्ट्रनिष्ठा का उल्लेख कहीं नहीं आया यह त्रुटि कदाचित् किसी को लगेगी। किन्तु ऐसा नहीं है। राष्ट्रनिष्ठा तो गृहीत ही है। हमारा प्रत्येक धार्मिक कर्म **'जंबुद्दीपे भरतखंडे'** इस भौगोलिक उल्लेख से और भूमिपूजन से ही प्रारंभ होता है। भारत भूमि की महिमा तो अनेक पुराणों में और धर्म ग्रंथों में वर्णन की गई है। उदाहरण के लिये ब्रह्मपुराण अध्याय १९ श्लोक २३–२४ और अ. २७ श्लोक ६५–७२ देखिये। राष्ट्र को मातृरूप मानने की हमारी परंपरा है। **'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मतः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः** (मनु. २.२०) इस देश में जन्म लिये हुए ब्राह्मणों से, पृथ्वी के सब मनुष्यों को अपना आचार सीखना चाहिये। ऐसा तो मनुजी स्वाभिमान और आत्मविश्वास से कहते है जो स्वयं सत्य है और जिसकी प्रतीति नित्य आती है उसको दोहराने की कुछ आवश्यकता नहीं होती। हमारी राष्ट्र की संकल्पना क्या थी इसका स्वतंत्र विवेचन हो सकता है। किंतु भारतीय धर्म कल्पना में राष्ट्रनिष्ठा का प्रधान स्थान है इतना कह देना पर्याप्त होगा।

सनातन वैदिक धर्म–जो हिंदू नाम से भी प्रसिद्ध है– यह एकमात्र विश्वधर्म होने का पात्र है। हाथी के पाँव में सबके पाँव आ जाते है इस न्याय से सनातन धर्म में सब तथाकथित धर्मों का ग्राह्य अंश सम्मिलित हो जाता है। **'धर्मादर्थश्च कामश्च सधर्मः किं न सेव्यते'** धर्म से ही अर्थ और काम ही प्राप्ति होती है। वह धर्म की उपासना क्यों नहीं करते ? ऐसा व्यासजी ऊर्ध्वबाहु होकर उद्घोष करते है। किन्तु कोई सुनताही नहीं ऐसी उनकी व्यथा है। परंतु व्यास जी को हम विश्वास दिलाना चाहते है कि हम यथार्थ रूप से 'सुन रहे है, सुन रहे है और आगे भी सुनेंगे।'

***

अबोध बालक की प्राणरक्षा

विजयशंकर उपाध्याय

यह अलौकि घटनाक्रम छब्बीस फरवरी सन् उन्नीस सौ अन्ठानवे दिन गुरुवार का है। श्री सिद्धयोग पत्रिका के नियमित पाठकगण, बलिया जिले के निवासी श्री राजेश कुमार तिवारी का अवांछनीय तत्वों द्वारा अपहरण एवं अनादिसिद्ध परम योगि–योगेश्वर दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज द्वारा स्थूल रूप से प्रकट होकर उसे अपने साथ लेकर उसके घर तक पहुँचाने की अहैतुकी कृपागाथा से अवश्य ही परिचित होंगे। प्रस्तुत कृपा प्रसंग इसी श्री राजेश कुमार तिवारी के द्वितीय पुत्र से सम्बन्धित है। इस समय इनके बच्चे की उम्र मात्र तीन साल से कुछ दिन कम है। फरवरी के प्रथम सप्ताह में बच्चे की तबियत कुछ खराब हो गयी एवं उसने रोना आरम्भ किया। बच्चे को कई गाँव के डाक्टरों, हकीमों एवं वैद्य लोगों से दिखलाया गया परन्तु उसका कष्ट रंचमात्र भी कम नहीं हुआ। इतने छोटे बच्चे को क्या रोग है एवं यह किस कष्ट के कारण लगातार रो रहा है, यह किसी की समझ में स्पष्ट रूप से नहीं आया। बच्चे का लगातार रोना जारी ही रहा। एक योग्य एवं अनुभवी डाक्टर के परामर्श पर बच्चे को चौबीस फरवरी अन्ठानवे को राजकीय चिकित्सालय बलिया जिले के शिशु वार्ड में भरती किया गया। इनके गाँव से यह अस्पताल मात्र नौ किलोमीटर दूरी पर स्थित है। बच्चे की देखभाल के लिये घर के सदस्यों में से बच्चे की माँ एवं श्री राजेश की माँ अस्पताल में रखी गयीं।

रात के समय अस्पताल में यही दो महिलायें रहती थीं परन्तु दिन के समय इनके परिवार के सदस्यों, रिस्तेदारों एवं हितैषियों के आने–जाने का कार्यक्रम लगातार जारी रहा। अस्पताल में भर्ती के पश्चात् इस बालक का रोग घटने के बजाय बढ़ता ही गया एवं रोते–रोते बेहोश हो जाया करता था। पच्चीस फरवरी को महाशिवरात्रि का व्रत था जिसे इन महिलाओं ने भगवान शंकर एवं गुरुदेव का व्रत रखा एवं बराबर गुरु स्मरण करती रहीं।

छब्बीस फरवरी को प्रातः काल डाक्टरों की टीम करीब नौ बजे रोगियों को देखने वार्ड में आयी। यह टीम अन्य रोगियों को देखते हुए जब इस बालक के पास आयी तो उस टीम का मुखिया बैड के पास रखे स्टूल पर बैठ गया एवं कहा कि आप लोग इस बच्चे का गहन परीक्षण कर यह बतलायें कि किस कष्ट के कारण यह बराबर रो रहा है एवं रोते–रोते बेहोश हो जा रहा है। डाक्टरों की टीम ने करीब एक घन्टे तक गहन परीक्षण किया परन्तु, क्या वास्तविक रोग है इस बात पर मतैक्य नहीं बन सका। इसके पश्चात् मुख्य डाक्टर ने अपना आला एवं अन्य यंत्र द्वारा बच्चे का फिर परीक्षण करना आरम्भ किया एवं करीब पन्द्रह मिनट के परीक्षण के बाद कहा कि इस बच्चे के साथ कौन आदमी है, हमारे साथ आओ। उस समय वहाँ पर श्री राजेश के छोटे भाई श्री संजय जी उपस्थित थे, जो अपने गाँव के प्रधान हैं, डाक्टर टीम के मुखिया ने श्री संजय से कहा कि बच्चे की हालत इस समय बहुत ही खराब है, इसका श्वांस भी रुक–रुक कर

चल रहा है। यदि ऐसी परिस्थिति में चौबीस घंटे व्यतीत कर लेता है तो इसे बचाया जा सकता है, वरना भगवान का ही सहारा है। इतना कहकर डाक्टर समुदाय चला गया एवं श्री संजय, वार्ड में बच्चे के पास आ गये जहाँ बच्चे की माँ एवं उनकी माँ उपस्थित थीं। डाक्टरों की बात को सुनकर श्री संजय उदास और निराश हो गये एवं उनके चेहरे से यह बात स्पष्ट दिखायी देने लगी। श्री संजय के वार्ड में पहुँचने के पश्चात ही उनकी माताजी (अबोध बच्चे की दादी) ने प्रश्न किया कि डाक्टर साहब ने क्या बतलाया। सत्य को छिपाते हुए उन्होंने कहा कि डाक्टर लोग बता रहे थे कि दो–चार दिन में बिल्कुल ठीक हो जायेगा। उनके चेहरे पर छायी उदासी एव निराशा से वास्तविक स्थिति छिप न सकी एवं वे मन ही मन रोने लगे एवं उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। उनकी माता जी ने उन्हें चुप कराया एव उसे पकड़कर बाहर ले जाकर कहा कि डाक्टरों ने तुमने क्या कहा है, मुझे सत्य–सत्य बतलाओ। उनके ऐसा आदेश देने पर श्री संजय ने डाक्टरों द्वारा कही गयी सब बातें सत्य–सत्य अपनी माँ को बतला दीं। डाक्टरों की राय को सुनकर वह (अबोध बच्चे की दादी) भी फूट–फूटकर रोने लगीं एवं वहाँ कारुणिक दृश्य उपस्थित हो गया। ऐसी ही परिस्थितियों पर विचार कर किसी साधक ने कहा है–

आशा के सब दीप बुझे तो, मन का दीप जला।
जग का रास्ता छोड़ मुसाफिर, तेरी राह चला,
हे गुरुवर, तेरी राह चला।

संसारिक प्राणियों एवं साधनों द्वारा जब तक सहायता की आशा रहती है, तब तक मानव श्री प्रभु को याद नहीं करता या दूसरे शब्दों में यह कहा जाय कि प्रभु तभी सहायक होते है जब प्राणी संसारिक अपेक्षाओं को छोड़कर उन्हें प्रेमातुर होकर पुकारता है। अबोध बच्चे की दादी के साथ भी यही हुआ एवं उसने अनवरत श्री सद्गुरुदेव भगवान का चिन्तन एवं मन्त्र–जप आरम्भ किया। प्रातः साढ़े दस बजे से सायंकाल करीब चार बजे तक निरन्तर स्मरण–चिन्तन एवं मंत्र–जप का परिणाम यह निकला कि दयासागर श्री प्रभु जी को दया आ ही गयी। सायंकाल चार बजे इस दुःखद एवं कष्टदायक वातावरण का अलौकिक विधि से पटाक्षेप हो गया।

इस समय वार्ड में बच्चे के पास उसकी माँ जमीन पर बैठकर अपने सिर पर अपना हाथ रखे निराश एवं उदास भाव से बैठी हुयी थी। अबोध बच्चे की चारपायी के साथ रखे स्टूल पर उसकी चचेरी दादी बैठी हुयी थी। इस बच्चे के घर के दादा लगने वाले श्री राम जी तिवारी, श्री संजय तिवारी (प्रधान) चाचा अपने गाँव के अन्य हितैषियों के साथ उसी वार्ड में खड़े होकर यह विचार कर रहे थे कि अब क्या किया जाय ? इसके इलाज के लिये इसे कहाँ ले चला जाय। बच्चे की हालत सोचनीय एवं दयनीय थी। इस समय बच्चे की दादी (श्री राजेश तिवारी की माँ) वार्ड से बाहर अस्पताल के प्रांगण में स्थित एक पीपल वृक्ष के नीचे जो मिट्टी का चबूतरा बना था, उस पर आसन लगाकर बैठी हुयी थीं एवं आराध्य देव श्री सद्गुरुदेव भगवान का स्मरण करती हुयी खुली आँखों तीव्र संवेग से मंत्र–जप कर रही थी शायद बीमार बच्चे के पास से वे तीन बजे अपराह्न ही चली आयीं थीं एवं वहाँ बैठकर स्वाध्याय कर रही थीं। आखिर दयासागर को

दया आ ही गयी। ठीक चार बजे धोती–कुर्ता–चादर एवं हाथ में छड़ी लिये आराध्यदेव योगिराज प्रभु श्री चन्द्र मोहन जी महाराज उसके ठीक सामने प्रकट हो गये। उस वृद्ध महिला ने जमीन पर सिर रखकर उनको प्रणाम निवेदित किया। श्री प्रभु जी ने आर्शीवाद देकर उससे स्नेहमयी वाणी में प्रश्न किया, "लल्ली, क्यों क्या बात है, क्यों याद कर रही हो ?" उसने प्रार्थना की कि, "गुरुजी, हमारा नाती, आप के शिष्य राजेश का पुत्र, जो अबोध है एवं अपना कष्ट बतला भी नहीं सकता, उसकी तबियत इतनी खराब है कि लगता है कि अब मरा, तब मरा। उसे चलकर देखिये और ठीक कर दीजिये।" श्री गुरुदेव भगवान ने अपनी मनमोहनी मुस्कान के साथ कहा कि, "लल्ली, हम उसे देखकर ही आ रहे हैं और पन्द्रह–बीस मिनट में वह बिल्कुल–बिल्कुल पूर्ण रूपेण स्वस्थ हो जायेगा। तुम्हें परेशान होने की कोई जरूरत नहीं है।" आराध्यदेव श्री प्रभु जी की यह वाणी सुनकर वह फूट–फूट कर रोने लगी। उसने रोते हुये स्वर में हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि गुरुजी, आप एक बार हमारे साथ चलकर बच्चे के सिर पर अपना हाथ फेरने की कृपा करें। आराध्यदेव ने अपनी मनोहर मुसकान के साथ कहा कि, चलो जब तुम्हारी यही इच्छा है तो हम तुम्हारे साथ ही तुम्हारे पोते के पास चलते हैं, चलो। इतना सुनते ही उस महिला को महान आनन्द का अनुभव हुआ, उसे रोमाञ्च हो गया एवं वह प्रसन्नता से श्री प्रभु जी को उस वार्ड में ले जाने के लिये खड़ी हो गयी, जिसमें उसका पोता मृत्यु से जूझ रहा था। यहाँ पर यह बताना समीचीन होगा कि इस महिला ने बतलाया कि **जिस समय श्री गुरुदेव अपने चिनमय शरीर से उसके सामने प्रकट हुए; उसके मानस पटल से यह तथ्य पूर्ण रूपेण विस्मृत हो गया कि श्री सद्गुरुदेव भगवान अपने स्थूल शरीर का लिलावसान पच्चीस जून नब्बे को ही कर चुके हैं तथा अपने चिन्मय शरीर से उसके सामने प्रकट हुये हैं।**

उस पीपल वृक्ष से, जहाँ गुरुदेव प्रकट हुये थे; इस वार्ड की दूरी जहाँ बालक भर्ती था लगभग सौ मीटर होगी। इस भाग्यवान महिला ने योगेश्वर प्रभु श्री चन्द्र मोहन जी महाराज को अपने पोते की रक्षा हेतु अस्पताल के शिशु वार्ड की यात्रा आरम्भ की। आगे–आगे महिला एवं उससे करीब छः कदम पीछे जगतपति जनार्दन श्री सद्गुरुदेव भगवान चल रहे थे। महिला प्रेममय होकर आत्मविभोर थी एवं रास्ते में कोई भी मिलता उससे कहती, **"रास्ता छोड़ो, दिखायी नहीं देता श्री प्रभु जी आ रहे हैं।"** अपने इसी आत्मिक आनन्द के भाव में वह उस वार्ड में पहुँच गयी, जहाँ बच्चा भर्ती था। रास्ते में वह प्राणियों को हटाते हुये, पीछे मुड़कर श्री प्रभु जी को निहार लिया करती थी एवं श्री प्रभु जी उसे देखकर मुस्करा देते थे। वार्ड में पहुँच कर उसने अपने छोटे पुत्र संजय (ग्राम प्रधान) से कहा कि श्री प्रभु जी को साष्टांग प्रणाम करो परन्तु अपनी माता की बात सुनकर वह हक्का–बक्का था क्योंकि उसे श्री प्रभु जी दिखलायी ही नहीं दे रहे थे। इसके पश्चात् उसने बीमार बच्चे के पास रखे स्टूल पर बैठी अपनी देवरानी से कहा कि; दिखायी नहीं देता कौन आये हुये हैं, जल्दी जाकर कम्बल लेकर आओ।"

वह स्टूल से उठकर गयी एवं कम्बल लाकर ज्योंही दी, उसने झाड़कर स्टूल पर बिछाया एवं करबद्ध प्रार्थना किया कि हे प्रभो ! आसन पर विराजमान होने कि कृपा करें। श्री प्रभु जी ने मधुर मुस्कान के साथ कहा कि नहीं लल्ली, ठीक है। इतना कहकर श्री प्रभु जी ने अपना बरद हस्त उस बीमार बच्चे के सिर पर

घुमाया एवं बोले कि लल्ली, परेशान या उदास होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है, कुछ समय पश्चात् तुम्हारा यह पोता बिल्कुल ही स्वस्थ हो जावेगा। तत्पश्चात् अपनी मनोहर मुस्कान के साथ बोले कि लल्ली, अब हमें रास्ता दिखाओ, मैं चलूं। उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर वह (श्री राजेश की माँ) सर्व समर्थ एवं सर्वज्ञ को रास्ता दिखाने चली। जिस भाव विह्वलता में एवं जैसे प्राणीमात्र को सावधान करते यह पीपल के वृक्ष के पास से श्री प्रभु जी को अपने साथ लायी थीं, उसी प्रकार वह आराध्य देव को पहुँचा रही थीं। जब बीच–बीच में वह पीछे मुड़कर देखती थी तो वह प्रभु जी भी अपनी पूर्व यात्रा की तरह ही मुस्करा दिया करते थे। वार्ड से बाहर निकलते ही श्री प्रभु जी ने कहा, "जाओ लल्ली, अब हम चले जायेंगे।"

उसने ज्योंही पीछे मुड़कर देखा तो वहाँ कोई नहीं था। उनके अन्तर्ध्यान होने के बाद इस महिला को स्मरण आया कि श्री प्रभु जी शरीर धारण करके हमारे पोते को जीवन दान देने आये थे। इन्हीं हर्ष एवं विषाद के क्षणों को स्मरण करती हुयी वह बीमार बच्चे की चारपायी के पास पहुँच गयी। चारपायी के पास रखे स्टूल पर बैठकर उसने अपने पोते का सिर सहलाते हुये कहा कि आँख खोलो भैया, देखो कौन आया है। अब अपनी दादी की बात सुनते ही वह अपनी आँखे खोलकर दादी की गोद में जाने की इच्छा करने लगा। उसकी दादी ने तत्काल उसे अपने गोद में उठा लिया एवं उससे स्नेह करने लगी। उस बीमार बच्चे ने कहा कि दादी अब हमें घर ले चलो, हम यहाँ नहीं रहेंगे। उसकी दादी ने कहा कि हाँ, भैया हम अभी तुम्हें घर ले चलते हैं। अपने लड़के श्री संजय (प्रधान), अपने देवर श्री रामजी तिवारी एवं अपनी देवरानी तथा अन्य हितैषियों एवं डाक्टरों के मना करने के बाद भी वह इस बच्चे को घर ले जाने की जिद्द करने लगी एवं उसे डिस्चार्ज कराकर सबके साथ घर आ गयी।

उस बीच की बेला में जब कि वह श्री प्रभु जी को अपने साथ लेकर आयी एवं आशीर्वाद दिलाकर फिर अपने साथ लेकर गयी, चूंकि उसे छोड़कर किसी को भी श्री प्रभु जी के चिन्मय शरीर का दर्शन लाभ नहीं हुआ अतः ग्राम प्रधान सहित सभी लोग यही कह रहे थे कि बच्चे की बीमारी की खराब एवं लाइलाज हालत के रहस्य को जानकर इसका दिमाग खराब हो गया है। यह उल्टी–सीधी बातें कर रही है। इन प्राणियों को क्या पता कि यह महिला किस आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव कर रही है श्री प्रभु जी जिसे चाहेंगे, उसी भाग्यवान को अपने चिन्मय शरीर का दर्शन लाभ देंगे एवं उसको ही उनकी लीलाओं का रहस्य समझ में आयेगा। मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम के चरित्र वर्णन में महात्मा तुलसी दास ने लिखा है कि :—

"जो कुछ चरित किन्ह भगवाना।
संग लखन उन्हऊँ नहीं जाना।।

भिजग पावन योगेश्वर भगवान कृष्ण की लीलाओं में भी इसी प्रकार के अनेकानेक चरित्र देखने को मिलते हैं हमारे एक परम आदरणीय गुरूभाई श्री ब्रजमोहन वाशिष्ठ जी ने अपनी भजनावली में ठीक एवं यथार्थ सत्य निरूपित किया है:

"महाप्रभु शिवशंकर प्यारे, सद्गुरू कृष्ण मुरारी।
जाग–जाग रे मूरख प्राणी, सारी उमर गुजारी।।"

पश्चाताप

ब्र० बृजमोहन वाशिष्ठ

जीवन में कुछ कर न सके
गुरु सेवा कर भव तर न सके

भजन किया नहिं ध्यान किया
यज्ञ किया नहिं दान किया
चलते फिरते जप कर न सके ।।१।।

मात-पिता की करी न सेवा
तीर्थ करे नहिं ध्याये देवा
दीनों का भी दुख हर न सके ।।२।।

गुरुदेव ने हम को ज्ञान दिया
प्यार दिया और मान दिया
हम फिर भी क्यों नहिं संभल सके ।।३।।

उनसे कभी व्यवहार न सीखा
मधुर बचन और प्यार न सीखा
वचनों पर मोहन चल न सके ।।४।।

***

क्या मनुष्य मन है ?

लेखक : ब्र० ओम प्रकाश, लखनऊ

यह मनुष्य शब्द मनुष्य के मन से ही बना है; जिस मनुष्य का जैसा मन होता है वह मनुष्य वैसा ही होता है। देखने में मनुष्य में मन ही मनुष्य का सब कुछ है; क्योंकि मन के क्षुब्ध या शान्त होने पर मनुष्य क्षुब्ध या शान्त कहलाता है। यूं तो दुनियां में मनुष्य के लिए अलग–अलग भाषाओं में बहुत से शब्द है, वह शब्द मनुष्य के व्यक्तित्व की अर्थात् मनुष्य अपने में क्या है ? उसकी जानकारी देते हैं। जैसे उर्दू में उसे **आदमी** कहा जाता है। यह आदमी शब्द बनता है मिट्टी से अर्थात जो मिट्टी से बनाया गया, ऐसा आदमी शब्द का अर्थ है। यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों में यही कहनी है कि उस अल्ला ताला ने मिट्टी का पुतला बनाया और उसमें सांसे, प्राण फूंक दिए इस प्रकार पहले आदमी का, आदम का जन्म हुआ। आदमी शब्द का अर्थ मिट्टी का पुतला सच है यह बात, लेकिन बहुत अधूरी–अधूरी है। निश्चित ही आदमी मिट्टी से ही बना है; आदमी मिट्टी का दिया है लेकिन इस मिट्टी के दिए में जो चेतना की ज्योति है वह मिट्टी की इस पृथ्वी की नहीं है उस ज्योति का इशारा आकाश की ओर होता है। मनुष्य का शरीर बाहरी रूप है उसका, लेकिन आदमी मिट्टी से ज्यादा भी है।

मिट्टी जड़ है, मनुष्य में चेतना है। यह मनुष्य शब्द मिट्टी से ज्यादा की खबर देता है। मनुष्य सिर्फ मिट्टी ही नहीं है वह मिट्टी से भिन्न भी है। अंग्रेजी में आदमी के लिए **मैन (MAN)** शब्द है। यह मैन शब्द मन का ही रूपान्तर है। यह मनुष्य शब्द का ही भिन्न रूप है। **मैन** और **मनुष्य** इन दोनों शब्दों का उद्गम एक ही तत्व मन से हुआ है। मन का अर्थ होता है मनन की प्रक्रिया, मनन की क्षमता। सोच–विचार–इच्छाओं की संभावना। मिट्टी तो क्या खाक सोचेगी, मनन करेगी, विचार करेगी वह कौन है? जो मनुष्य आकृति मिट्टी में मूर्त रूप हुए इस मिट्टी की मूर्ति के भीतर सोचता और विचार करता है ? कौन है वह जो मनुष्य के भीतर मनन करता है? वह चैतन्य है जो इस जड़ मिट्टी के शरीर को चेतना प्रदान करके कर्मरत बनाता है। शरीर मिट्टी है इसीलिए मनुष्य में मन मिट्टी से ज्यादा है।

अध्यात्मवादी लोगों का मानना है कि मानव मनु की सन्तान होने के कारण इसको **मनुष्य** कहा जाता है। लेकिन ज्यादा सत्य ही नहीं बल्कि पूर्ण सत्य तो यही बात है कि जो मन से चले अथवा मन जिसे चलाए यही मनुष्य शब्द का सही अर्थ है। मन की मानकर जो चले उसी को मनुष्य कहते हैं।

सतपथ ब्राह्मण का एक सूत्र है "**को वेद मनुष्यस्य:**" अर्थात् कौन सा वेद है जो मनुष्य को जानता

है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य इतना जटिल व रहस्यमय है कि उसे कोई नहीं जान सकता ? वास्तव में देखा जाय तो मनुष्य पराकाष्ठा है जीवन के रहस्य की। यूं तो एक गुलाब के फूल को भी कहाँ जाना जा सकता है। हाँ मनुष्य को जानना हो तो मनुष्य के मन को जानना होगा क्योंकि मनुष्य मन है मनुष्य का जैसा मन वैसा ही मनुष्य होता है। मनुष्य के अन्दर उसका मन ही जटिल व रहस्यमय है। वह मनुष्य ही अपने को जान सकता है जो अपने मन को जानता है। मनुष्य का मतलब बताते हुए शास्त्रों में कहा है **''मनसा सीव्यति इति मनुष्यः''** अर्थात मन से जो सींले, सम्बन्ध जोड़ ले वह मनुष्य है। मनन शील को मनुष्य कहते हैं। शरीर से नहीं मन से ही मनुष्य का मनुष्य होना है। शरीर से तो सभी मनुष्य दीखते है लेकिन शरीर तो पशु है जड़ है प्रकृति है। गुरु नानक देव जी ने कहा भी है **''कर्म पशु के मानुष जात''**। मनुष्य की सही में पहचान मनुष्य का मन है। क्योंकि मनुष्य के समस्त कर्मों में मन की ही प्रधानता के कारण उसका नाम मनुष्य पड़ा है। शरीर की प्रधानता के कारण पशु का नाम पशु है। पशु और मनुष्य में मौलिक अन्तर यही है कि मनुष्य को आत्म बोध मानव शरीर में ही होता है पशु शरीर में नहीं। जीव शरीर से बंधे होने के कारण अथवा शरीर को ही मैं मानने के कारण पशु कहलाता है। वास्तव में मनुष्य के मन को समझना ही मनुष्य को समझना है क्योंकि सारा संसार मानव मन पर प्रगट है। संसार के सारे चित्र मानव मन पर उभरते हैं। मनुष्य जो भी है वह मन का फैलाव है मन का मनन है। मनुष्य कुछ नहीं करता, सब कुछ उसका मन ही करता है। जब मन शान्त होता है तब मनुष्य शान्त, मन आनन्दित होता है तब मनुष्य आनन्दित होता है जो कुछ भी मनुष्य के मन के धरातल पर उठता है, चलता है और फैलता है वही शरीर के धरातल पर उठता है, चलता है और फैलता है।

मनुष्य के मन का रहस्य इतना विशाल व गूढ़ है कि इसके लिए एक स्वतंत्र मनोविज्ञान ही खड़ा करना पड़ा है। पूरे संसार में ही मन की संरचना का, उसकी संभावना का तथा उसकी विकृतियों का अध्ययन किया जा रहा है। लगता है यदि मन का रहस्य खुल गया तो मनुष्य का रहस्य खुल जायेगा। जितनी भी अनुभूतियां जितने भी बोध है वे सब मन के धरातल पर होते हैं। मन है वह केन्द्र स्थल जहां सुखद, दुःखद आदि सारी अनुभूतियां उठती हैं और रहती हैं और चूंकि हम अपने मन के साथ एकाकार तदाकार होते है अतः सारी अनुभूतियाँ, सारे बोध हमारे हो जाते है। मन की अशान्ति हमारी अशान्ति बन जाती है, मन का हर्ष हमारा हर्ष हो जाता है। मन शरीर के साथ तादात्मा में रहता है। इसलिए शरीर की भूख, प्यास, सुख–दुख समस्त पीड़ाएँ मन तक आती हैं और हम मन के साथ शरीर को हो जाती है।

अध्यात्म में जहां मनुष्य का मन होता है, वहीं मनुष्य की उपस्थिति मानी गयी है तन जहाँ है उससे, नहीं। तन और मन का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है तन और मन का अलगाव नहीं होना चाहिए जहाँ मनुष्य का तन हो वहीं पर मन को होना चाहिए। तन मन्दिर में और मन घर में अथवा तन घर में मन मन्दिर में

ऐसा नहीं होना चाहिए। मन–शरीर और इन्द्रियों का राजा है; मनुष्य मन का गुलाम होता जा रहा है। जबकि इसको मन का स्वामी होना चाहिए। मनुष्य को अपने मन को ना मानकर मन मानी न करके बुद्धि को मानकर चलना चाहिए यही बुद्धिमानी है। वैसे भी शरीर में शरीर से श्रेष्ठ इन्द्रियां हैं और इन्द्रियों में भी श्रेष्ठ शरीर में मनुष्य का मन है, और इस मन से भी श्रेष्ठ शरीर में मन से ऊपर व श्रेष्ठ बुद्धि है। जो मन के मनन किए हुए विषय पर करने–न करने का निर्णय देती है। कहा भी है **''मन लोभी, मन लालची मन चंचल मन चोर। मन के मते न चालिए, पलक पलक मन और।।** और इनके अतिरिक्त इस बुद्धि से भी ऊपर व श्रेष्ठ मनुष्य की आत्मा है।

शास्त्रों में संकल्प–विकल्प करने वाले यन्त्र को मन कहा है। **''संकल्प विकल्पात्मक: मन:** इन्द्रियाँ–सहित शरीर मन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। स्थूल शरीर मन की बाह्य अभिव्यक्ति है। मन इस स्थूल शरीर का सूक्ष्म रूप है। शरीर के द्वारा मनुष्य का मन ही सारे कार्य करता है। मानसिक क्रिया ही वास्तविक क्रियाएं होती हैं। वस्तुत: केवल मन के कार्य ही कर्म कहलाते हैं, शरीर के नहीं। स्थूल शरीर के नाश हो जाने पर मन अपनी कामना के अनुसार ही नवीन शरीर प्राप्त करता है। शरीर मन की अनुगामी है अन्न के सूक्ष्म अंश से मन का निर्माण होता है कहा भी है **''यथा अन्न: तथा मन:''** के अनुसार अन्न के सूक्ष्म अंश से मन बनता है। जैसा भी मनुष्य सात्विक, राजस, तामस अन्न खाता है उसी के अनुसार उसका वैसा ही मन बनता है। मन शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का होता है। शुद्ध मन–पवित्र मन मनुष्य का मित्र है। और अशुद्ध अपवित्र मन मनुष्य का शत्रु है। शुद्ध मन के द्वारा अशुद्ध मन का नाश होता है। सात्विक और राजसिक मन की गति एक दूसरे के विपरीत होती है। सात्विक मन एकता, एकाग्रता बनाता है। राजसिक मन विभाग और भेद बनाता है। यह जगत मन के विकार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। योग वाशिष्ठ में कहा भी है **''मन: कल्पित जगत''**। अर्थात् यह जगत मन की कल्पना है जिसको हम जगत कहते हैं, वह केवल मन ही है, मन ही संसार है यथा **''मनोमात्र जगत''** अर्थात् यह संसार मन की रचना है। मन के नाश से ही संसार का नाश होता है। जगत में मनुष्य के जीवन में जितना हर्ष–शोक का अनुभव होता है वह सब मन की क्रिया से ही होता है। सारे दुःख और सुख समूह मन के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। मन के नाश से ही सुख–दुख का नाश भी हो जाता है। मन माया है अथवा माया ही मन है कहा भी है **''मन माया तो एक है माया मन प्रगटाय।''** यह मन ही अविद्या है। मन की विविध वृत्तियों में राग, द्वेष और मोह बहुत ही बद्धमूल हैं। मनुष्य का मन ही उसके बन्धन और मुक्ति का कारण है। यथा–

''मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो:।
बन्धाय विषया शक्त मुक्त्यैनिर्विषयं स्मृतम्।

अर्थात–मनुष्य का मन ही उसके बन्धन और मुक्ति का कारण है जिस मनुष्य का मन विषयों में आसक्त है वही उसका बन्धन है और जिस मनुष्य का मन विषयों से अनासक्त होगा, वह मुक्त होगा।

मौन में मन विसर्जित होता है। जितना मौन फैलेगा उतना ही मनुष्य का मन विसर्जित होता चला जायेगा। मन का न होना ही सच्चा मौनव्रत है। मन को जो समझे, मन को जो समझले। उसका नाम **मुनी** है। मन की मानकर नहीं चलना चाहिए क्योंकि मन के अनेक मत हैं कहा भी है—

मन के मते न चालिए मन के मते अनेक।

मन के मारे मर गए, काजी, मुल्ला शेख॥

मनुष्य के जन्म—मरण का व सुख तथा दुःख का सम्बन्ध मन से है। यह सुख और दुःख पुण्य और मन के साथ ही सम्बन्ध है। मनुष्य का जन्म जन्मान्तरों का साथी उसका मन ही है। शरीर नहीं। मनुष्य में मनुष्य का मन ही सब कुछ है, मनुष्य के उत्थान और पतन, मनुष्य के निर्माण और विनाश का कारण मन ही है। गीता में मन को छठी इन्द्रिय कहा है **मन षष्ठानी इन्द्रियाणि** मनुष्य का मन बर्हिमुखी होकर सांसारिक विषयों का ज्ञान देता है और यही मन जब ध्यान के द्वारा अर्न्तमुख होता है तो आत्मज्ञान को आत्मानन्द का अनुभव करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—ये छः मन के विकार है। मन पर विजय महत्तम विजय है। "**मनोजयएव महाजयः**" जिसने अपने मन को, जीत लिया तो समझो समस्त संसार को जीत लिया। क्योंकि संसार मन की ही तो कल्पना है। कहावत भी है "मन जीता जग जीता।" जन्म—मरण के दुःखों से तथा जीवन के समस्त दुःखों, क्लेशों व पीड़ाओं व शोकों से आप मन के नाश होने पर ही छूट सकते हैं। बच सकते हैं। शुद्ध मन मनुष्य का मित्र है। और अशुद्ध मन ही मनुष्य का महान शत्रु है। मन को शुद्ध, निर्मल करना व साधना ही सभी साधनाओं का लक्ष्य है। शुद्ध मन ही, सात्विक मन ही एकाग्र होता है और अशुद्ध मन ही चंचल रहता है। कबीर ने कहा—

कबिरा मन निर्मल भया ज्यों गंगा का नीर।
पीछे पीछे हरि फिरें कहत कबीर कबीर॥

मन की एकाग्रता के लिए कहा है—

"मन फुरना से रहित कर जौन विधि से होय।
चाहे भक्ति चाहे योगते, चाहे सांख्य से खोय॥

मनुष्य को अपने मन की चंचल वृत्ति को रोकने के लिए सदा सचेत रहना चाहिए। गृहस्थी मनुष्य का मन सिनेमा, सरकस, दुकान, बच्चों आदि विषय वासनाओं में भटकता है और साधु सन्तों का मन काशी—वृन्दावन तीर्थों में देवी देवताओं में, भटकता है।

इस चंचल मन को साधना, रोकना ही साधना है मन को जो साधे वही सच्चे अर्थों में **साधू** है। मन को साधना या रोकना, और रोककर उसे अपने अनुसार चलाना यही तो योग साधना है। संसार तो मन की

कल्पना है। मन नहीं तो संसार भी नहीं मन है तब तक संसार है। मन के संकल्प से ही संसार खड़ा हुआ है। मानो नाश ही मुक्ति है। जिस मनुष्य का मन मरता है उसी को मुक्ति मिलती है। कहा भी है **''मनसोभ्युदयो नाशो मनो नाशो महोदय:''** मनुष्य का मन ही मनुष्य को भला, बुरा साधु–असाधु, बनाता है। आज मनुष्य अपने शरीर को तो सुन्दर बना लेता है। लेकिन मन को स्वच्छ सुन्दर नहीं बनाता इसी विषय में कहा भी है–

''मन मलीन तन सुन्दर कैसे।
विष रिष भरा कनक घट जैसे।।

परमात्मा का ध्यान करने से मन सुधरता है, शुद्ध निर्मल होता है। संसार और शरीर का ज्यादा ध्यान करने से मन बिगड़ता है। सतगुरु, सतपुरुष और सत्संग से मन निर्मल होता है। और निर्मल शुद्ध मन ही गुरुदेव और भगवान को अच्छा लगता है। कहा भी है–

निर्मल मन जन सो मोहियावा।
मोहि कपट छल छिद्र नभावा।।

मनुष्य का मन जैसा होगा मनुष्य को वैसा ही बना देगा। मनुष्य का मन ही संसार के भोगों को भोग कर उसे भोगी बना देता है और वही मनुष्य का मन योग की साधना करके उसे योगी बना देता है। मन की शंका, मन का संशय, मन में भय, मन की अश्रद्धा, मन का डरपोक, मन का गन्दा, मन का कायर, मन का कमजोर, मन का क्रोधी, मन का लोभी, मन का भोला, मन का कपटी, मन का ढोंगी, मनुष्य कहा जाता है। मन के कारण इसी प्रकार दूसरी ओर मन का अच्छा, मन का नेक, मन का साहसी, मन का श्रद्धालु, मन का भोला, मन का साफ, मन का साहसी आदि मनुष्य मन से ही कहलाया जाता है। कहा भी है–

''विचारा हि मनुष्याणां प्रतिमाना:।'' अर्थात् आदमी कैसा है उसके मन के जैसे विचार हैं वैसा ही वह है। अपने विचारों की प्रतिकृति है– आदमी।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को बकरी जैसा न बनाये। एक पेड़ की पत्ती खाकर झट दूसरे पेड़ की पत्ती खाने लगती है। अपने मन को मनुष्य गली के आवारा कुत्तों के समान न बनावें। कुत्ते के समान अपने मन को इधर–उधर न फिरने दें। अस्थिर मन एक साधना से दूसरी साधना एक देवता से दूसरे देवता, एक गुरु से दूसरे गुरु की तरफ इधर उधर भटकता रहता है। साधक के लिए यह भटकाव बहुत हानिकारक है। साधक को चाहिए कि वह एक ही गुरु, एक ही देव, एक ही इष्ट, एक ही मन्त्र, एक ही स्थान, एक ही प्रकार की योग साधना में लगातार लम्बे समय तक लगा रहे। एक में ही स्थिर और दृढ़ रहना चाहिए। तभी साधक को साधना में सफलता मिलेगी। अन्यथा साधक का मन उसे इधर उधर भटकाता रहेगा। धोखा देता रहेगा।

मनुष्य के मन की तुलना पारे से की जाती है जैसे पारे के बिन्दु को स्थिर करने के लिए समतल भूमि की आवश्यकता होती है। थोड़ी सी भी विषमता से यह इधर उधर हिलता रहता है। इसी तरह मन को भी समझो मनुष्य के मन की तुलना बन्दर से भी की जाती है, क्योंकि जिस तरह से बन्दर चंचल होता है वह एक डाल से दूसरी डाल पर कूदता–फांदता रहता है इसी तरह मनुष्य का मन भी बन्दर की भाँति चंचल रहता है। अंग्रेजी में बन्दर को मन्की कहते हैं। बन्दर में भी मन की विशेषता होती है। चंचलता होती है। मन की ही प्रधानता होती है। वर्तमान समय में अधिकांश मनुष्यों का मन भगवान में न लगकर मनी अर्थात् रुपया पैसा में लगा हुआ होता है जिस प्रकार मनुष्य का मन उसकी पत्नी में लगा होता है उसी प्रकार मनी अर्थात धन, मन की पत्नी है मनी, धन इसलिए मन अपनी पत्नी में रमण करता है।

शास्त्रों में मन की एकाग्रता को परम तप कहा है यथा **''तपः सु सर्वेषु एकाग्रता परंतपः।''** अर्थात् सभी तपों में मन की एकाग्रता परम तप है। सब तपस्याओं में मन की एकाग्रता परम तपस्या है। मन की एकाग्रता को ही शास्त्रों में दिव्य चक्षु कहा है। इसी दिव्य चक्षु से भगवान का योग ऐश्वर्य दिखता है। अगर मन की एकाग्रता हुई तो तपी का तप सिद्ध हो जायेगा, जपी का जप सफल हो जायेगा, योगी ध्यानी का योग ध्यान सिद्ध हो जायेगा। मन की एकाग्रता स्वयं एक अद्भुत सामर्थ्य है जो सब धर्मों से श्रेष्ठ है। श्री रामकृष्ण परम हंस जी में अद्भुत एकाग्रता थी जिसके फलस्वरूप वे जैसा मनन–चिन्तन करते थे वैसा ही उनका स्थूल शरीर भी बन जाता था। सखी सम्प्रदाय की साधना करते–करते राम कृष्ण परम हंस का शरीर स्त्रियों जैसा ही हो गया था। यहाँ तक कि उनको मासिक धर्म तक होने लगा था। यह सब मन की एकाग्रता का प्रभाव है कि अगर मनुष्य पूर्ण मन की एकाग्रता से जिसका भी चिन्तन मनन करेगा वह भी वैसा ही हो जायेगा। एकाग्रता में इतनी शक्ति है कि मनुष्य के मनन का प्रभाव उसके शरीर पर पहुँच जाता है। मन की एकाग्रता की लौकिक व्यवहार से लेकर परमार्थ तक महती आवश्यकता है। यदि हमारे पास मन की एकाग्रता नहीं है तो हम मन्दिर में होते हुए भी मन्दिर में नहीं होते और यदि मन की एकाग्रता है तो दुकान में होते हुए भी भगवान के मन्दिर में हो सकते हैं। मन का जो अन्त करे वह **सन्त** है। मन को जो साधे वही **साधु** है। मन को जो मारकर एकाग्र करे वही **योगी** है। अपने मन से ही तुम चाहें जो कुछ बन जाओ, मन से दुःखी, सुखी आनन्दित बन जाओ। जीव बन जाओ, पशु बन जाओ, देवता भगवान बन जाओ। जो बनना है जैसा भी बनना है मन से बनता है, और जो भी बिगड़ा है वह मन के बिगड़ने से बिगड़ा है। अतः अपने मन को भगवान का मन्दिर बनाओ। अपने मन रूपी मान सरोवर में सोऽहं हंस रूप हंस सदा विराजमान रखो क्योंकि मान सारोवर की शोभा हंसों से ही है। कागों से नहीं। अपने मन को भगवन अर्पण गुरु अर्पण करो तभी तुम मन की मायावी बन्धन से छूट सकोगे जो मनुष्य अपने मन से ऊपर उठ जाता है। वह फिर मनुष्य

नहीं रहता। वह फिर महामानव हो जाता है महात्मा बन जाता है। सन्त महात्मा, योगीजन अपने मन से न चलकर बुद्धि विवेक से चलते हैं। संसारी लोगों का मन बाहर संसार में बिखरा हुआ होता है। भगवान के ध्यान में उनके नाम जप में बिखरे हुए मन को बटोरना होता है। जैसे राई के दानों को बिखरा दें तो फिर उनको इकट्ठा एक जगह करने में बड़ी परेशानी होती है। इसी तरह बाहर बिखरे हुए मन को भगवान के नाम में एकत्र करने में बड़ी परेशानी होती है। संसार माया नहीं है बल्कि यह मनुष्य का मन ही माया है। कहा भी है **"गो गोचर जहं लगि मन आई। सो सब माया जानो भाई।।"** मन से मुक्त होना ही मुक्ति है। मन मिटा तो सब माया मिट गई सब मोह ममता मिट गई। जैसे ही मन मिटता है अज्ञान अविद्या का अंधकार मिट जाता है। ज्ञान की रोशनी हो जाती है। कहा भी है–

"माया मरी न मन मरा मरि मरि गए शरीर।
आशा तृष्णा ना मरी कह गए दास कबीर।।

मन माया तो एक है, माया मन हि समाय।
तीन लोक संशय पड़ा, काहि कहूँ समझाय।।

यह मन मायावी यंत्र है, माया का चक्र मन से ही चलता है। यंत्र पर चढ़ी वस्तु जैसे घूमती है उसी प्रकार मन रूपी यंत्र पर चढ़ा मनुष्य घूमता है। मन से ही आसक्ति है और मन से ही विरक्ति है। मनुष्य का मन ही उसे मायावी भ्रम में भ्रमाता है और उसी का मन भ्रम का निवारण करके ब्रह्म से मिलाता है। मनुष्य का मन ही राग के द्वारा संसार से बांधता है। और मनुष्य का मन ही वैराग्य के द्वारा उसे खोलता है। इस प्रकार एक ही मन दो काम करता है तुम्हारे लिए तो तुम्हारा मन जो कहता है उसे ही सच मानते हो तुम को जितना अपने मन पर विश्वास है, उतना गुरु देव पर नहीं है।

पुरानी तौल में एक मन, वजन का बांट चलता था। मन में एक ही मनन होने से वह विषय एक मन जैसा भारी हो जाता है। दो प्रेमियों के, मित्रों के अथवा गुरु और शिष्यों के दो मन जब मिलते हैं तो दो मन का वजन भार हो जाता है। दुनियां में मन मिले का मेला है। **न मन मिले तो ना मैं गुरु ना तू चेला। मन न मिले तो सबसे भला अकेला।** सारा संसार अपने मन के होने पर ही चलता है लेकिन साधु–सन्त, गुरु के कहने पर चलने वाले होते हैं। कहा भी है **"मन मुरीद संसार है। गुरु मुरीद कोई साधु।।"** कबीर दास जी कहते हैं कि –

"मन सागर मनसा लहरि बूढ़े बहुत अचेत।
कहहि कबीर ते जानि है जिनके हृदय विवेक।।

अतः योग के द्वारा अपने मन को मारो। कहा भी है—

"मन अपने को मार लो, करके योगाभ्यास।
निर्मल ये दस इन्द्रियां, बनी रहें सब दास।।

मन ही गृहस्थी जाय बन घर मानले संसार को।
धारण करे वैराग्य मन ही, त्याग दे व्यवहार को।।

मन लाभ हानि व सुख, दुख के जानता सब काल को।
कोई योगीजन ही जानते, इस धूर्त मन की चाल को।।

***

पुनर्वित्तं पुनर्मित्रं पुनर्भार्या पुनर्मही।
एतत्सर्व पुनर्लभ्यं न शरीरं पुनःपुनः।।

—चाणक्यनीति दर्पण

धन, मित्र, पत्नी और यह जगत (सम्पदा, देश, राज्य आदि) तो बार–बार मिल सकते हैं पर मनुष्य शरीर बार–बार नहीं मिलता। बल्कि अनेक योनियों में भटकने के बाद मनुष्य योनि मिलती है। अतः इस दुर्लभ मनुष्य शरीर का सदुपयोग कर शुभ कर्म और धर्म के अनुसार आचरण करना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था.................

योगशास्त्र के अनुसार अन्तः चित्तवृत्ति पर विजय ही एकमात्र उपाय है।..........ईश्वर को पाने की उत्कट अभिलाषा ही धर्म है। ....लोकहितैषी कार्य आदि केवल मन को किंचित् शांत भर करते हैं ! यह योग–साधना–पूर्ण बनना–पूर्णतया हमारे अतीत पर आश्रित है। मैं जीवन भर अध्ययन करता रहा हूँ और अब तक थोड़ी सी ही प्रगति कर पाया हूँ। लेकिन जो फल प्राप्त हुए हैं, उनसे मुझे विश्वास हो गया है कि यही एकमात्र सच्चा मार्ग है। वह दिन दूर नहीं, जब मैं अपना स्वामी स्वयं बन जाऊँगा। इस जन्म में न सही, अगले जन्म में ही सही। मैं लगातार संघर्ष जारी रखूँगा, हार नहीं मानूंगा। कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता। यदि इसी क्षण मैं देह छोड़ दूं, तो मेरे पिछले सारे संघर्ष मेरी सहायता करेंगे। क्या तुम्हें जन जन के बीच अंतर उत्पन्न करने वाली शक्तियों का पता नहीं है ? यह उनका प्रारब्ध है। अतीत के संस्कार एक को प्रतिभाशाली और दूसरे को मूर्ख बनाते हैं। तुम अतीत के संस्कार के बल पर पाँच मिनट में सफल हो सकते हो। क्षण भर में क्या घटित हो सकता है, कोई नहीं बता सकता। हम सबको कभी न कभी पूर्णत्व प्राप्त करना ही है।

योगी जो हमें व्यावहारिक पाठों की शिक्षा देता है, उसका अधिकांश मन, एकाग्रता एवं ध्यान–से सम्बन्ध रखता है।.......हम इतना अधिक भौतिकवादी बन गये हैं। हम जब कभी अपने ऊपर विचार करते हैं, तो हमें शरीर ही शरीर दृष्टिगोचर होता है शरीर ही हमारा आदर्श हो गया है और कुछ भी नहीं। अतः किसी सीमा तक भौतिक सहायता अनिवार्य है।.......

पहली बात है, स्थिर होकर उस आसन में बैठना, जिसमें देर तक निश्चल बैठे रह सको सभी सक्रिय नाड़ी–प्रवाह मेरुदंड के माध्यम से संचालित है। मेरुदंड शरीर का स्थूल भार वहन करने के लिए नहीं है। अतः आसन ऐसा होना चाहिए, जिससे शरीर का बोझ मेरुदंड पर न पड़े। सभी प्रकार के दबाव से उसे मुक्त रखना चाहिए।

कुछ और भी प्रारंभिक बातें हैं। खान–पान तथा व्यायाम का मुख्य प्रश्न है।.........

खान–पान सादा हो और दिन में दो–एक बार की अपेक्षा, कई बार उसका सेवन हो। भूख कभी भी ज्यादा तेज न हो। 'न तो बहुत खाने वाला योगी हो सकता है और न बहुत अनशन करने वाला। न अति शयन करने वाला योगी बन सकता है और न तो अत्यन्त जागने वाला ही'? कर्मशून्यता और कर्म की अति भी इसमें सहायक नहीं होती। योगसिद्धि के लिए **युक्ताहार, युक्तचेष्टा** और **युक्तस्वप्नावबोधता** अति आवश्यक है।

युक्त आहार क्या है, उसका भेद क्या है, आदि का निर्णय स्वयं हमें करना होगा। हमारे लिए दूसरा कोई इसका निर्णय नहीं कर सकता। साधारणतया हमें उत्तेजक आहार से दूर रहना चाहिए।......अपने व्यवसाय

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। गीता।६।१६।।

के अनुरूप अपने आहार में अपेक्षित परिवर्तन करना हम नहीं जानते। हम यह सदैव भूल जाते हैं कि जो कुछ हमारे पास है, उस सबका निर्माण अन्न से ही होता है। अत: हमारे लिए ईप्सित शक्ति के प्रकार–परिणाम का स्वरूप खाद्यान्न ही स्थिर करेगा।........

अत्यन्त वेगयुक्त व्यायाम कदापि आवश्यक नहीं है।.......तुम पेशीप्रधान शरीर चाहते हो, तो तुम्हारे लिए योग नहीं है। अभी जैसा शरीर तुम्हारे पास है, उसकी अपेक्षा कहीं सूक्ष्म शरीर की रचना तुमको करनी होगी। वेगयुक्त व्यायाम निस्सन्देह हानिकारक हैं।.......जो अत्यधिक व्यायाम नहीं करते, उनके साथ रहो। यदि तुम इन व्यायामों से बचोगे, तो तुम्हारी आयु बढ़ेगी। केवल पुट्ठों में ही क्या तुम अपना जीवन–दीप नष्ट कर देना चाहोगे ? बुद्धिजीवी सबसे दीर्घायु होते हैं।......जीवन–दीप को जल्दी न जला डालो, उसे स्थिर और शान्त होकर जलने दो।.....हर चिंता, हर वेगपूर्ण व्यायाम–मानसिक या शारीरिक–का अर्थ जीवन–दीप को शीघ्रता से जला डालना है।

साधारणत: युक्ताहार का अर्थ है–ज्यादा मसालेदार खाना न खाओ। योगी का कहना है कि प्रकृति के गुणों के अनुसार मन तीन प्रकार का होता है। एक है तामसी मन, जो आत्मा के अमर आलोक को ढक लेता है। दूसरा है राजसी, जो क्रियाशीलता बढ़ाता है। तीसरा है सात्त्विक, जो स्थिरता और शान्ति का मूल है।

कुछ लोगों की अत्यधिक सोने की प्रवृत्ति जन्म से ही होती है। उनकी रुचि सड़ते हुए पनीर जैसे सड़े–गले आहार के प्रति होती है।.....यह उनकी सहज प्रवृत्ति है।

राजसी प्रकृतिवालों की रुचि तीखे और चरपरे पदार्थों, तेज शराब आदि के प्रति होती है।......

सात्त्विकी प्रकृति वाले, अत्यन्त विचारशील, स्थिर एवं शान्त प्रकृति के होते हैं। वे मिताहारी होते हैं और कभी भी दूषित आहार ग्रहण नहीं करते।

मुझसे बराबर यह प्रश्न किया जाता है– "मैं मांस खाना छोड़ दूँ ?" मेरे गुरुदेव ने कहा था, "कोई चीज छोड़ने का प्रयत्न तुम क्यों करते हो ? वही तुम्हें छोड़ देगी।" प्रकृति का कोई पदार्थ त्याज्य नहीं है। अपने को इतना तीव्र बना लो कि प्रकृति स्वय,ही तुम्हें त्याग दे। एक समय आयेगा, जब कि तुमसे मांस खाते नहीं बनेगा। उसे सामने देखते ही तुम घिना जाओगे। और भी ऐसा समय आयेगा कि आज तुम जो जो चीजें छोड़ने के लिए संघर्ष कर रहे हो, वे ही अरुचिकर ही नहीं, घिनौनी लगने लगेंगी।

अब, प्राणायाम के कई विधान हैं। एक विधान के तीन भाग हैं–साँस लेना, साँस रोके रहना– बिना श्वास लिये निश्चेष्ट रहना– और साँस निकालना। प्राणायाम के कुछ प्रयोग कठिन जरूर हैं, और उचित आहार–सेवन के अभाव में कुछ जटिल क्रियाओं की साधना खतरे से खाली नहीं है। सरल क्रियाओं की अपेक्षा मैं इन जटिल क्रियाओं की साधना में रुचि लेने की सलाह तुमको नहीं दूँगा।

लम्बी साँस लो एवं फेफड़ों को फुलाओ। धीमे धीमे श्वास बाहर फेंको। एक नथुने से साँस खींचो और

फेफड़ों को भरो। दूसरे नथुने से उसे धीमे धीमे बाहर फेंको। हममें से कुछ लोग साँस भी उचित मात्रा में नहीं ले पाते हैं। कुछ सज्जन फेफड़ों को ठीक रूप में भर नहीं पाते। इस श्वास–प्रश्वास–क्रिया से यह कमी कुछ हद तक दूर होगी। प्रातः आध घण्टे, सायंकाल आध घण्टे, यह प्रयोग जारी रखो, तो तुम्हारा व्यक्तित्व ही बदल जायेगा। यह प्राणायाम हानिप्रद नहीं है। अन्य क्रियाओं की साधना बहुत मन्द गति से होनी चाहिए। पहले अपनी शक्ति का अनुमान करो। यदि दस मिनट अधिक लगें, तो पाँच ही मिनट सही।

योगी से आशा की जाती है कि वह अपना शरीर स्वस्थ रखें। प्राणायाम के ये विभिन्न विधान शरीर के अवयवों को व्यवस्थित रखने में बड़े सहायक हैं। सभी भाग प्राणवायु से प्लावित हैं। प्राण के सहारे ही हम उन अवयवों को वश में रख सकते हैं। अवयवों में उत्पन्न असन्तुलन को उनकी ओर प्राणवायु–तरंगें अधिक प्रेषित करके ठीक कर सकते हैं। जब शरीर में कहीं पीड़ा हो, तो योगी को यह बताने में समर्थ होना चाहिए कि वह प्राण की कमी से हुई या आधिक्य से। योगी को उसका सन्तुलन करना होगा।......

योग–साधना की सफलता के लिए दूसरी शर्त **ब्रह्मचर्य** है। सभी साधनों की यही आधारशिला है। विवाहित हो या अविवाहित–पूर्ण रूप से ब्रह्मचारी होना चाहिए। यह लम्बा विषय जरूर है, लेकिन मैं तुम्हें बताना चाहता हूँ : इस पर सार्वजनिक रूप से चर्चा इस देश की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। पश्चिमी राष्ट्रों में प्रचारकों के रूप में ऐसे खतरनाक सज्जनों की संख्या कम नहीं है, जो स्त्री–पुरुषों में यह प्रचार करते हैं कि ब्रह्मचर्य हानिकारक है। ऐसी बातें उन्हें कहाँ से सूझती हैं ?.........हर साल हजारों आदमी यही एक प्रश्न लेकर मेरे पास आते हैं। किसी ने उनसे कह रखा है कि ब्रह्मचर्य शारीरिक स्वास्थ्य की हानि पहुँचाता है।...... ये प्रचारक यह जान कैसे गये ? वे ब्रह्मचारी रहे हैं ? ये लम्पट, अपवित्र, कामुक जीव सारे संसार को अपनी सतह पर खींच ले आना चाहते हैं !.......

त्याग के बिना कोई सिद्धि सम्भव नहीं है।.....त्याग मानवीय चेतना का पवित्रतम, सर्वोत्तम साध्य है, उसे अपवित्र न बनाओ.......उसे पशु–स्तर पर घसीटो नहीं।.....अपने को भद्र पुरुष बनाओ......शीलवान और पवित्र रहो।....... दूसरा कोई चारा नहीं है। ईसा मसीह ने दूसरा कौन मार्ग ढूंढ निकाला था ? यदि तुम समुचित रीति से शक्ति का संचय और विनिमय सीखो, तो वही ईश्वर तक पहुँचायेगा। यह विपरीत हो जाय, तो उसे नरक ही जानो।.....

बाह्य स्तर पर कुछ कर दिखाना आसान है, लेकिन दुनिया का महान् से महान् विजेता भी अपने मन पर विजय पाने के प्रयास में अपने को शिशु अनुभव करता है। इसी जगत् को उसे जीतना है– जो बहुत बड़ा और कठिनता से जीता जा सकने वाला है। निराश न होओ। **उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत**।....

* * *

विशते ब्रह्मधाम

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम्।।

तृतीय मुण्डक (खण्ड–२)/४

सबके आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वर उपासनास्वरूप बल से रहित मनुष्य द्वारा प्राप्त किये नहीं जा सकते। समस्त भोगों की आशा छोड़कर एकमात्र परमात्मा की ही उत्कट अभिलाषा रखते हुए निरन्तर विशुद्धभाव से अपने इष्टदेव का चिन्तन करना–यही–उपासना रूपी बल का संचय करना है। ऐसे बल से रहित पुरुष को वे नहीं मिलते। इसी प्रकार कर्तव्यत्यागरूप प्रमाद से भी नहीं मिलते तथा सात्विक. लक्षणों से रहित संयमरूप तपसे भी किसी साधक द्वारा नहीं प्राप्त किए जा सकते। किन्तु जो बुद्धिमान साधक इन पूर्वोक्त उपायों से प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रमाद रहित होकर उत्कट अभिलाषा के साथ निरन्तर उन परमेश्वर की उपासना करता है, उसका आत्मा परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है।

●●●●

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008 August 1998

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ————————————

————————————

————————————

भक्तिमान्य: स मे प्रिय:

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्य स मे प्रिय:।।

(गीता १२/१९)

जो न कभी हर्षित होता है न द्वेष करता है, न शोच करता है और न किसी प्रकार की आकांक्षा करता है जो शुभाशुभ दोनों का त्यागी है वह भक्तिमान् (पुरुष) मुझको प्रिय है।

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बराई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुदित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326